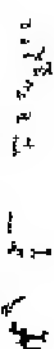
कड़वी मीठी बातें

नरेन्द्र

कड़वी मीठी बातें



कड़वी मीठी बातें

[बारह कहानियाँ]

नरेन्द्र

प्रकाशगृह, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : अगस्त १९४२

एक रुपया

मुद्रक:—हरप्रसाद वाजपेयी, कृष्णा-प्रेस, २६ हिवेट रोड, प्रयाग ।

बन्धुवर श्री रविन्द्रनाथ देव

को

भूमिका

प्रस्तुत संग्रह में मेरी प्रारम्भिक बारह कहानियाँ संग्रहीत हैं। इनके अतिरिक्त मैंने और बहुत-सी कहानियाँ लिखी हों, सो बात नहीं। मैं प्रधानतः कहानी-लेखक नहीं हूँ। लेकिन कहानी-लेखक न बनना चाहता होऊँ, यह बात भी नहीं। भविष्य में और अधिक, और अच्छी कहानियाँ लिखना चाहता हूँ। इसलिये अपने पाठकों से मेरा संबंध टूट नहीं जायगा।

इन कहानियों मे से कई ऐसी हैं जिन्हें मेरी कुछ अलिखित कविताओं का ही गद्य रूपान्तर कहा जा सकता है—ऐसी कविताओं का रूपान्तर जो आगत या भविष्य के पट पर भी चित्र बना कर कवि की भावनाओं को वाणी देने मे संकोच नहीं करतीं। इन भावना-प्रधान कल्पनाजन्य रचनाओं ने मानसिक उलझनों की सुलझन बनने का भी कहीं-कहीं प्रयत्न किया है।

और भी ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें मैंने अपने भीतर के छोटे-से संसार को पार कर उस बड़ी दुनिया की सैर की है, जहाँ मुझ जैसे अनेक मानव प्राणी बसते हैं किन्तु जिन्हें मेरे जैसे मानसिक विलास और विकास का अवसर नहीं मिला है। उन मानव प्राणियों के जीवन का मैं कितनी सचाई से चित्रण कर सका हूँ, इसका निर्णय पाठक स्वयम् कर लेंगे।

'कड़वी मीठी बातें'—इस संग्रह की सब कहानियो में एक-सी शैली नहीं है, उन सब की एक सतह नहीं। यह बात जहाँ मेरे अपरिपक्व होने की

द्योतक है, वहाँ मुझ इससे जीवन के अनेक पहलुओं को दिखला सकने और समाज की ऊँची-नीची जमीन पर कलम को ले जा सकने की क्षमता भी भविष्य में मिलेगी।

इस छोटे से संग्रह की भूमिका के रूप में बहुत लम्बी-चौड़ी बातें करना बेकार है, बात को तूल देना भी फिजूल है। इसलिए मैं इसी स्थल पर अपने कहानी-संग्रह और अपने पाठकों के बीच से हट जाता हूँ।

२१ अगस्त, १९४२

नरेन्द्र



क्रम

शीर्षक पृष्ठ

ज्वाला परचूनी

ज्वाला की उम्र काफी हो चुकी है, करीब उनसठ साल। पर वह रोज चार घड़ी के तड़के उठ जाता है—कुछ तो इसलिये कि वह अकेला है और घर का सब काम-काज खुद उसी को करना पड़ता है, लेकिन खासकर इसलिये भी कि जब तक वह नहा धोकर कस्बे के छोर पर अपनी छोटी दूकान तक पहुँच नहीं जाता, पास पड़ोस के लोग अपने घरों के दरवाजे खोलना पसन्द नहीं करते। लोग सुबह-सुबह उसका मुंह देखने का जोखिम उठाना नहीं चाहते, कहते हैं वह करमहीन है।

ज्वाला रोजी के मामले में करमहीन नहीं है। आज तक किसी के सामने उसने दो पैसे को भी हाथ नहीं पसारा। हमेशा अपने पाँवों पर ही खड़ा रहा है। ज्वाला के बचपन की बात तो अब अतीत की बात हो चुकी है। लेकिन जहाँ तक सुना है यही कि जब से माँ-बाप मरे, उसने किसी का सहारा नहीं तका और न कभी किसी का आसरा ही लिया।

माँ तो ज्वाला के जन्म के दो महीने बाद ही मर चुकी थी और बाप भी ताऊन की पहली महामारी में उसे नौ साल का छोड़कर चल बसे थे। ज्वाला को लोग मूलिया कहते हैं। मोहल्ले की बड़ी-बूढ़ियों का तो रोज का कहना है कि देखो तो वह बचपन में ही माँ-बाप को खागया।

किन मुसीबतों में उसका बचपन बीता और किन मशक्कतों में घिस-घिस कर वह बड़ा हुआ यह पूरी तरह से कोई नहीं जानता। लेकिन यह

सब जानते हैं कि वह निकला सर्वभक्षी। एक के बाद दूसरी, इस तरह उसने छः शादियाँ की थी। पर अन्त को उनमे से बची एक भी नही। एक न एक बार सब की गोद भी भरी थी, लेकिन बारह बच्चों में से आज उसका नाम लेवा एक भी नही। सब दो-दो, पाँच-पाँच, दस-दस, साल के होकर मर गये। सुनते हैं जवानी में जब वह हट्टा कट्टा था, उसने एक नाइन और फिर ढलती उम्र में एक विधवा ब्राह्मणी को भी घर में बिठाया था, लेकिन उन दोनों उपपत्नियों में से भी कोई न बची। उस वक्त से विधवायें और वेश्याएँ भी उससे डरने लगी थीं।

उसकी जवानी की नाइन उपपत्नी की यादगार आज भी उसके झुर्रियो-दार माथे पर लाठी की चोट के एक बड़े निशान के रूप मे मौजूद है। यह लाठी नाइन के पति की थी, जिसने हताश होकर पुरजोर हाथ से ज्वाला पर चोट की थी। कहा जाता है कि चोट उसने इसलिये नहीं की कि वह डाह से बेकाबू हो गया था बल्कि इसलिये कि ज्वाला के इतिहास से उसे विश्वास हो गया था कि उसकी स्त्री ज्वाला के संसर्ग में बचेगी नहीं। ब्राह्मणी की कथा और भी विचित्र है। सुनते हैं उसके पाँव सिलपट्ट थे और कस्बे भर में सर्वसोखी के नाम से वह मशहूर थी। जिस घर में गई, उसने वह घर चौपट किया। इसलिये जब वह ज्वाला की रखैल हुई, लोगों के मन उत्सुकता से बेताब होने लगे थे यह देखने के लिये कि इनमें बाजी कौन जीतता है। वह बेचारी महीने दो महीने भी ज्वाला के साथ न टिक सकी। तब से ज्वाला के पराक्रम की कथा पत्थर के लकीर की तरह हमेशा के लिये लिख गई थी। उसे लोग डरने लगे थे। ज्वाला के लिये उनका दिल पत्थर होगया था, जिसमें बूंद भर भी तो सहानुभूति न थी। थी बस घृणा।

इस घृणा और अपने जीवन के भारी बोझ को ढोता हुआ वह जीता

है। क्यों जीता है, ईश्वर जाने! पर यह कि वह इस भार से दबा हुआ है, उसके चलने-फिरने, बात करने और रहने—सब तरह से जाहिर है। उसके चेहरे को देखिए। जीवन की दुखित कथा झुर्रियों में नहीं, खाल की ऐंठनों में लिखी है—जैसे मोम के किसी पुतले की आकृति ताप पाकर विकृत हो गई हो।

ज्वाला के मनस्ताप का मैं कुछ-कुछ अनुमान कर सकता हूँ। मेरा मन उसकी कल्पना से कभी-कभी मोम की तरह पिघल भी जाता है; लेकिन झूठ क्यो बोलूँ—मैं और लोगों के समान निष्ठुर न सही कायर तो जरूर हूँ। इस कस्बे में, और कस्बे के इस मोहल्लों में मुझे किराएदार आए साल भर हो गये, पर मैंने भी तो कभी साहस नहीं किया कि ज्वाला के पास जाऊँ, और उसके सुख-दुख की बात पूछूँ और अजगर सी पड़ी हुई मोहल्ले की रूढ़ि को फलांग जाऊँ। समझता सब कुछ हूँ कि उसके हृदय में विषाद का सीमाहीन रेगिस्तान फैला होगा। वह मानवी बस्ती में प्रेत की तरह घूमता है—लेकिन मेरे किये कुछ भी तो होता नहीं। कई बार सोचा है कि उससे बोलूँ—बतलाऊँ, लेकिन मेरी धर्मपत्नी ऐसा होने नहीं देती। उनकी यही एक दलील है—'माना कि आप ठीक भी सोचते हैं, लेकिन बस्ती भर की बात झूठ थोड़े ही हो सकती है। ' 'और हम तो परदेशी हैं इस मनहूस के लिये क्यों अलाय-बलाय सिर पर लें?' यह कहते-कहते क्षण भर के लिये वह काँप उठती है।

मैं चुप होकर सो रहता हूँ। मेरी आँख खुलती है, जब ज्वाला चरपट मंजरी की एक यही पंक्ति दोहराता हुआ मन्दिर के कुएँ से नहा कर लौटता है—'भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज, मूढ़मते!'

कितनी बार, कितनी तरह मैंने इस एक पंक्ति को सुना है! मैंने इसे ज्वाला की खुली हुई आवाज में सुना, ठिठुरते हुए कण्ठ के टूटते हुए स्वर

सब जानते हैं कि वह निकला सर्वभक्षी। एक के बाद दूसरी, इस तरह उसने छः शादियाँ की थीं। पर अन्त को उनमें से बची एक भी नहीं। एक न एक बार सब की गोद भी भरी थी, लेकिन बारह बच्चों में से आज उसका नाम लेवा एक भी नहीं। सब दो-दो, पाँच-पाँच, दस-दस, साल के होकर मर गये। सुनते हैं जवानी में जब वह हट्टा कट्टा था, उसने एक नाइन और फिर ढलती उम्र में एक विधवा ब्राह्मणी को भी घर में बिठाया था, लेकिन उन दोनों उपपत्नियों में से भी कोई न बची। उस वक्त से विधवायें और वेश्याएँ भी उससे डरने लगी थीं।

उसकी जवानी की नाइन उपपत्नी की यादगार आज भी उसके झुर्रियों-दार माथे पर लाठी की चोट के एक बड़े निशान के रूप में मौजूद है। यह लाठी नाइन के पति की थी, जिसने हताश होकर पुरजोर हाथ से ज्वाला पर चोट की थी। कहा जाता है कि चोट उसने इसलिये नहीं की कि वह डाह से बेकाबू हो गया था बल्कि इसलिये कि ज्वाला के इतिहास से उसे विश्वास हो गया था कि उसकी स्त्री ज्वाला के ससर्ग में बचेगी नहीं। ब्राह्मणी की कथा और भी विचित्र है। सुनते हैं उसके पाँव सिलपट्ट थे और कस्बे भर में सर्वसोखी के नाम से वह मशहूर थी। जिस घर में गई, उसने वह घर चौपट किया। इसलिये जब वह ज्वाला की रखैल हुई, लोगों के मन उत्सुकता से बेताब होने लगे थे यह देखने के लिये कि इनमें बाजी कौन जीतता है। वह बेचारी महीने दो महीने भी ज्वाला के साथ न टिक सकी। तब से ज्वाला के पराक्रम की कथा पत्थर के लकीर की तरह हमेशा के लिये लिख गई थी। उसे लोग डरने लगे थे। ज्वाला के लिये उनका दिल पत्थर होगया था, जिसमें बूंद भर भी तो सहानुभूति न थी। थी बस घृणा।

इस घृणा और अपने जीवन के भारी बोझ को ढोता हुआ वह जीता

है। क्यों जीता है, ईश्वर जाने! पर यह कि वह इस भार से दबा हुआ है, उसके चलने-फिरने, बात करने और रहने—सब तरह से जाहिर है। उसके चेहरे को देखिए। जीवन की दुखित कथा झुर्रियों में नहीं, खाल की ऐंठनों में लिखी है—जैसे मोम के किसी पुतले की आकृति ताप पाकर विकृत हो गई हो।

ज्वाला के मनस्ताप का मैं कुछ-कुछ अनुमान कर सकता हूँ। मेरा मन उसकी कल्पना से कभी-कभी मोम की तरह पिघल भी जाता है, लेकिन झूठ क्यों बोलूँ—मैं और लोगों के समान निष्ठुर न सही कायर तो जरूर हूँ। इस कस्बे में, और कस्बे के इस मोहल्लों में मुझे किराएदार आए साल भर होगये, पर मैंने भी तो कभी साहस नहीं किया कि ज्वाला के पास जाऊँ, और उसके सुख-दुख की बात पूछूँ और अजगर सी पड़ी हुई मोहल्ले की रूढ़ि को फलांग जाऊँ। समझता सब कुछ हूँ कि उसके हृदय में विषाद का सीमाहीन रेगिस्तान फैला होगा। वह मानवी बस्ती में प्रेत की तरह घूमता है—लेकिन मेरे किये कुछ भी तो होता नहीं। कई बार सोचा है कि उससे बोलूँ—बतलाऊँ. लेकिन मेरी धर्मपत्नी ऐसा होने नहीं देतीं। उनकी यही एक दलील है—'माना कि आप ठीक भी सोचते हैं, लेकिन बस्ती भर की बात झूठ थोड़े ही हो सकती है। ' और हम तो परदेशी हैं इस मनहूस के लिये क्यों अलाय-बलाय सिर पर लें ?' यह कहते-कहते क्षण भर के लिये वह काँप उठती है।

मैं चुप होकर सो रहता हूँ। मेरी आँख खुलती है, जब ज्वाला चरपट मंजरी की एक यही पंक्ति दोहराता हुआ मन्दिर के कुएँ से नहा कर लौटता है—'भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज, मूढ़मते !'

कितनी बार, कितनी तरह मैंने इस एक पंक्ति को सुना है! मैंने इसे ज्वाला की खुली हुई आवाज में सुना, ठिठुरते हुए कण्ठ के टूटते हुए स्वर

में सुना है और विराग और विषाद के बोझ से चूर दबी हुई आवाज में सुना है यह एक पाँक मेरे कानों में सुबह होते ही अनायास गूँज उठती है—'भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज मूढ़मते !'

इस कस्बे की और खासकर कस्बे के इस मोहल्ले की बंद पानी-की पोखर में डूबते उतराते हुए हमें एक साल और बीत गया है। हमारे जीवन में कोई विशेष घटना नहीं घटी और इस सामान्य जीवन की गति में बँधकर हमारे मन में और हमारी आँखों में क्षमता नहीं रही कि बाहर की रद्दोबदल और समय के फेर को हम देख सकें।

एक दिन सहसा मुझे लगा कि ज्वाला का स्वर इधर कई दिनों से सुनाई नहीं दिया। इसका यह मतलब नहीं कि मन में ज्वाला के लिये अनुराग था जो मुझे उसकी चुप्पी अखरती। मेरे मन में तो पड़ोसियों की ऐसी घृणा भी उसके लिये नहीं है। मैं तो पूरी तरह से उदासीन हूँ। लेकिन उपचेतन मन की कोई लहर चेतन के तट से अनायास ही आ टकराई होगी, जिसकी वजह से मैंने सोचा, मैं इधर कई दिनों से ज्वाला का स्वर नहीं सुन रहा हूँ।

पड़ोस के सेठ जी और सामने के पण्डितजी से मालूम हुआ कि ज्वाला आठ-दस दिन से अस्पताल में बीमार पड़ा है। पण्डितजी ने वक्रहास के साथ मुझे बताया—'बाबू जी अस्पताल में न जाता तो करता क्या ? घर में छोड़ा किसको था जो हारी बीमारी में पाँव पलोटती और सोने की थाली और गंगाजली लिये सामने खड़ी रहती।'

मैंने सोचा, हाय वह हमारे किसी सरकारी अस्पताल में पड़ा होगा जो मवेशियों के काबिल भी नहीं होते।

पण्डितजी ने मोहल्लेवालों को आश्वासन दे रक्खा था कि अब की बार ज्वाला पर पूर्ण मारकेश है, वह बचेगा नहीं। कुछ ने तो आराम की

साँस ली थी कि चलो मनहूस से मोहल्ले को छुट्टी मिलेगी और कुछ अभी से डरने लगे थे, यह सोचकर कि ज्वाला फिर भी प्रेत बन कर अपने घर में आ जमेगा। शैतान और जिद्दी बच्चों को बता दिया गया था कि ज्वाला मर गया है और उसका प्रेत उसके घर में आ बसा है। इस धमकी का उन पर असर भी होने लगा था।

कोई पाँच दिन और बीते होंगे। एक और तबदीली हुई। ज्वाला ने पण्डितजी को बुला भेजा था ताकि पण्डितजी के कहे अनुसार वह गेहूँ और गऊ का दान करके पीड़ा से छुट्टी पाए। कहा भी जाता है कि गेहूँ गऊ पुण्य करके बीमार या तो इधर आया या फिर उधर ही जाता है।

गऊ की खोज शुरु हुई। ठहरा यह था कि पण्डित जी अपनी पसंद की हुई गऊ लाएँ और कीमत का कुछ ख्याल न करें। ज्वाला को एक-एक पल भारी था।

लेकिन ज्वाला के हाथ गऊ बेचे कौन! हिन्दुओं की इस बस्ती में लोग कसाई के हाथ गाय बेचना भले ही पसंद करते, पर ज्वाला के हाथ नहीं। वह कहते गऊ माता की उसके हाथ क्या गति होगी, हम जानते हैं। एक बार को वह कसाई के खूँटे से रस्सा तुड़ाकर भले ही चली आए, पर ज्वाला के खूँटे पर वह दो दिन भी जीती न बचेगी।'

कस्बे भर में मशहूर है कि ज्वाला के घर में कोई प्राणी जीता नहीं बचता। एक बार उसने मसीता कुंजड़े से बकरी मोल ली थी जो चार दिन के भीतर पछाड़ खाकर मर गई। श्यामा खटिक की परिया का भी यही हाल हुआ। खेमा जाट की कुन्नी भैंस आठवें दिन चल बसी। और अलगू खाती की भली चंगी गाय तो ज्वाला के खूँटे पर आते आते ही मर गई थी। कहा जाता है कि उसने एक बार एक काली बिल्ली भी पाली थी, जिसे साँप ने डस लिया। चार दिन ज्वाला के घर की रोटी खाकर

कभी कोई कुत्ता भी तो बचा नहीं कहा तो यहाँ तक जाता है कि उसके दूकान-मकान में चूहों तक का ठिकाना न था।

पण्डित जी खेमा ब्राह्मण के पास गये। उसे बहकाया-फुसलाया, ड्योढ़ी कीमत देने का बचन दिया। लेकिन खेमा गाय बेचने पर राजी न हुआ। छज्जूसिंह ने भी साफ़ इनकार कर दिया। पण्डित जी ने बहुत कहा सुना कि कुछ वह ले, कुछ पण्डित जी को बचे, दोनों का काम चले, दोनों का पेट भरे, लेकिन छज्जूसिंह जाट टस से मस न हुआ। यही हाल सीताराम कहार के यहाँ हुआ। बैसाखी चमार के यहाँ से भी निराश होकर पण्डित जी खाली हाथ घर लौटे।

पण्डिताइन जी ने रास्ता सुझाया—'अजी अपनी गाय ही क्यों नहीं तीस रुपये में बेच देते ? (वास्तव में रोगी गाय आठ रुपये से ज्यादा की न थी।) संकल्प के बाद तो साथ चली ही आएगी।' पण्डितजी मान गए।

संकल्प के बाद गाय पण्डित जी के साथ ही लौट आई। ज्वाला ने सवा मन गेहूँ, ग्यारह रुपये नकद दक्षिणा में और तीस रुपये की गाय के साथ पण्डित जी को बिदा किया था। घड़ी भर में ज्वाला के साँस चलने लगे थे।

अनहोनी बात ! एक बार नब्ज छूट जाने के बाद ज्वाला बच गया और आठ दिन के भीतर ही पण्डित जी ने चारपाई ले ली। बीमारी के बाद अस्पताल छोड़कर ज्वाला के घर आने के दिन पण्डितजी संसार में नहीं रहे। गऊ माता पिछले दिन शाम से ही हाते में मरी पड़ी थीं।

मोहल्ले भर में हाहाकार मच गया। लोगों की आँखों में आतंक छाया हुआ है। कोई किसी से इस बारे में एक लफ्ज नहीं कहता। ज्वाला जैसे प्रेत का भी प्रेत बनकर लौटा है। उसकी काली छाया धुएँ की तरह

पास पड़ोस में छा गई है। और उस धुएँ से सब की साँस घुटने लगी है। आँखें भय मे निकली पड़ती हैं।

जेठ का महीना है। धू-धू कर लूक चल रही है । सब लोग मकान मे बंद ऊँघ रहे हैं। आवाज आती है सिर्फ कभी-कभी किसी घर की खुली खिड़कियाँ खड़खड़ाने की, जो ऊपर की मंजिल में गलती से खुली रह गई है। बाकी सब निस्तब्ध है।

थोड़ी ही देर मे बाहर के चौक मे एक अजब कोहराम मच गया। रुकने की हजार कोशिशों के बाद भी सदर दरवाजा खोले बिना मै न रह सका। देखा—दो बिजार, एक काला दूसरा धौला, फाँय-फाँय कर हाँफते हुए एक दूसरे से झड्डो ले रहे हैं, जैसे संगमरमर और मूसा स्याह के दो पहाड़ भूडोल के बल से आपस में टकरा रहे हैं। बालकों के दो दल विरोधी लड़ाकों को बढ़ावा दे रहे हैं।

अब तक इन योद्धाओं के क्षेत्र बटे हुए थे। काला उत्तर ओर का मालिक था और नई उम्र का धौला बिजार दक्खिन ओर विचरण करता था। दोनों पार के लड़कों के बीच इनके ऊपर प्रतिद्वन्द्विता थी और आज उनकी खुशी का ठिकाना न था, जब दोनों वीर किसी अज्ञात कारण से समरभूमि में कूद पड़े थे।

बला का जोर था दोनों मे। काला बिजार पुराना महारथी था और धौले में नई जवानी का जोम था। कौन जीतेगा, कौन कहे? दोनों ओर से विजय की कामना प्रगट की जा रही है। उनके दो कदम आगे पीछे होने से विजय नाद गूँज उठता था और दोनो ओर से गला फाड़ कर शाबाशी या बढावा दिया जाता था।

उस पार के सेठ जी के आठ बरस के लड़के टुन्नी को तो देखो, गोल-मठोल बेट सा! जोश में गला फूल आया है और मुँह लाल हो गया

है। वह धौले की विजय चाहता है। हमारे पड़ोसी सेठ जी का, उसी का हम उम्र लड़का बिल्लू अब भी पुराने योधा, काले का उत्साह दे रहा है। बिल्लू अपने मोहल्ले के बादशाह की पराजय मन में ध्यान भी नहीं लाता। वास्तव में काले के पुराने पराक्रम की कथा से लोगों के मन में उसके सिवा और किसी की जीत की सभावना नहीं होती—ऐसा उनका अंधविश्वास बन गया है।

ढूह के ढूह उन टकराते हुए पहाड़ों की आँधी के सामने धू-धू करती लू को भूल-सा गये थे। घरों के दरवाजे पट-पट खुलने लगे। सब लोग बाहर निकल आए। ज्वाला से भी न रहा गया होगा हालाँ कि अभी उसकी नकाहत दूर नहीं हुई है। अपनी हड्डियों के ढाँचे को लेकर वह अपनी चौखट के सहारे आ खड़ा हुआ। मैंने तो उसे पहली बार ही यों दिन में देखा है। सभी सकित चकित दृष्टि से हड्डियों के उस दयनीय पजर को देखने लगे।

जैसे ज्वाला के बाहर आते ही काले की किस्मत का फैसला हो गया। धौले के एक सींग के वार से उसकी बाँई आँख फूट गई है—उससे खून बहने लगा है और दूसरे सींग ने उलझ कर काले के बाईं ओर का सींग भी तोड़ लिया है। लो, अबके बार में तो काला बिल्कुल हिल गया, और भाग निकला।

'बिल्लू, हट! बिल्लू, हट!' सभी घबराकर एक साथ चिल्ला उठे। वह काले के पीछे खड़ा था। जरूर-जूरूर उसका पीछा करते हुए आतताई धौले की चपेट में आजायगा।

चिल्ला सब रहे थे लेकिन जगह से हिला कोई भी नहीं, और अगर हड्डियों का ढाँचा, ज्वाला ही प्राणों की परवा न करके बीच में न कूद पड़ता तो बिल्लू बिजारों के खुरों से कुचल गया होता। ज्वाला खुद चपेट

में आया वह हथेलियों पर और सर के बल, गिरा, लेकिन वह गिरा बिल्लू को ढांक कर। धौले के दाहिने सींग से उसकी कमर खुरच गई थी, जिससे खून बहने लगा था, और सड़क के एक कंकड़ ने माथे पर चोट की थी। वह लहू-लुहान था। लेकिन जीवन को सार्थक समझ कि वह बालक की प्राण-रक्षा कर चुका था—वह अपनी चोटों से बेखबर था। उसने बिल्लू को गोद में उठाया।

पिछली घटनाओं के धक्के से सन्नाहत बिल्लू ने आँखें खोलीं और वह चिल्लाया, 'भू · त···भू त···भू · त ··'और फिर बेहोश हो गया।

बहुतेरी दौड़ धूप की गई, लेकिन बिल्लू ने फिर आँखें नहीं खोलीं। कस्बा भर कहता है, हत्यारा उसे गोद में लेकर ही खा गया।

और बेचारा ज्वाला ? वह कमजोर और घायल है और पागलों की मुद्रा में अब अपनी चौखट पर दिनरात बैठा रहता है। वह किसी से कुछ बोलता नहीं। अपनी मक्खियाँ भी नहीं उड़ाता। मोहल्ला उजड़ने लगा है। लोग उधर से कम ही गुजरते हैं। ज्वाला मौत के इन्तजार में गुम-सुम बैठा रहता है पर उस बेचारे को मौत नहीं आती।



पिछवाड़ा

सड़क के नुक्कड़ के पास से, जहाँ घासवाले पानी के आम पम्प के नीचे घास को धो-धो कर और फिर फुला-फुलाकर गठरियों में सजाते हैं, एक पतली गंदी गली निकलती है, जो शहराती व्यापारी व्यवसायियों के ऊँचे-ऊँचे मकानों के पिछवाड़े-पिछवाड़े उत्तर की ओर चली गई है।

सड़क के नुक्कड़ से जरा हटकर इक्कों का अड्डा है और उसके आगे वही देशी बाजार है, जिसके मालिकों और महाजनों के मकानों और मकानों के पिछवाड़े का हम ऊपर जिक्र कर चुके हैं।

गन्दी गली के बीचोबीच बदबूदार मटमैले गहरे काले रंग के पानी की एक खुली हुई चौड़ी नली है, जिसके दोनों किनारे पत्थरों से पटे हुए हैं। दक्खिन ओर से गुजरने में नाली के बायें किनारे पर मेहतरों और दूसरे नीच कौम के मजूरों के छोटे-छोटे नीचे मकान हैं और दाहिनी ओर सामने वाले बड़े-बड़े मकानों के संडासों और पाखानों की खिड़कियाँ और दरवाजे खुलते हैं।

नाली के पानी की तरह इस गली की जीवन धारा भी बहती चलती है। नाली की बदबू से जैसे-वैसे इस जीवन से भी शरीफ शहराती दूर ही रहते हैं, पर यह गली न समझते हुये भी जानती है शरीफों की सभ्यता का सार क्या है, कैसा है—वह रोज देखती है उस गंदे पानी को जो नाली की राह दुर्गन्ध फैलाता हुआ बहता जाता है, जिसमें की कीटाणु उपजते हैं

और जहाँ से महामारी फैलती है। यह गली न समझ सकते हुये भी समझती है। श्रीमानों के इस व्यवसायी नगर का रूप हकीकत में क्या है—नगर का पिछवाड़ा रोज इसकी आँखों के सामने रहता है। हाँ, शरीफों की अशक्त इन्द्रियों में शक्ति नहीं कि वह अपनी सभ्यता के दुर्गन्ध-युक्त सार को पहचानें, अपनी इस व्यवसायी सभ्यता की हकीकत को देखें। वह अपनी नाक बचाते हैं, आँख बचाते हैं। गली के नरक में जिन मानव-प्राणियों को ठेल दिया गया है, शायद वह तो जानते हों कि इन शरीफों का पिछवाड़ा कितना गलीज हैं, पेंदी कितनी गंदी है। गली के मानव-प्राणी इसी गलाजत और गंदगी के बीच पले हैं। टुकड़े खाते हैं—शरीफों के मुख से निकले हुये; कमाते हैं मैला—शरीफों की रोग-ग्रस्त गंदी अंतड़ियों से निकला हुआ, कपड़ा जो पहनते हैं शरीफों की उतरन है, और रहते जहाँ हैं वह है शरीफों का पिछवाड़ा!

वह सब से ऊँचा मकान जो दक्खिन ओर से सबसे पहले पड़ता है और जिसका पिछवाड़ा सबसे कम बदबू का वायस है, वह मँगरू महाजन का मकान है। बीस बरस हुये मकान बना था महाजन की रखैल जसोदा अहिरिन के लिये, लेकिन अब सात-आठ बरस से उसमें एक वकील साहब रहते हैं। वकील साहब तेज आदमी हैं, लेकिन भलेमानस भी हैं; सफल सांसारिक हैं, लेकिन यारबाश हैं, रुपये वाले हैं, पर साफ़ सुथरे भी हैं। उनके मकान के बराबर एक घी के व्यापारी की हवेली है, फिर एक तेली का मकान है, जहाँ शनि देवता के प्रकोप से बचने के लिये, अच्छा खासा किराया देकर आज एक मोथाराम आढ़ती ने शरण ले रखी है। पूरी कतार ऊँचे-ऊँचे मकानों की है, जिनमें कुछ बिगड़े और बनते हुये रईस रहते हैं; लेकिन अधिकांश व्यवसायी और व्यापारी हैं। नीचे दोनों ओर दूकानें हैं।

वकील साहब के मकान के ठीक पीछे और गली के दक्खिन छोर के पास, बैसाखी और भदई, ये दोनों भाई रहते हैं—जिनका जिक्र हम अभी ही करने को थे। मेहतर हैं पर मैला नहीं कमाते। जमादार कहलाते हैं, पर करते हैं चौकीदारी। वास्तव में चौकीदारी तो एक ही करता है, दूसरे का काम तो अब भी चोरी-डकैती करना ही है।

बैसाखी की उम्र होगी कोई पैतालिस साल। वह बड़ा है। भदई जो छोटा है, उसकी उमर तीस के आस-पास है। बैसाखी ने अपने छोटे भाई को लड़के की तरह पाला-पनासा है। माँ-बाप बरसों पहले मर चुके हैं और बड़े भाई को छोड़ कर भदई का सरपरस्त और था भी कौन ? और अब वह भदई को चोरी-चकोरी का काम छोड़ देने को कहता है।

दस बरस पहले तक तो बैसाखी भी चोरी का पेशा करता था, पर एक दिन उसने एकाएक यह काम छोड़ दिया और चौकीदार बन गया। कहते हैं एक अँधेरी रात को बचने के लिये भागते-भागते वह मैले की कुण्डी में गिर पड़ा था। इसलिये वह घिर भी गया था, पर उसकी हालत पर लोग सिर्फ हँसे थे—हँसे थे ठहाका मार कर—और उन्होंने उसे भाग जाने दिया था। कहते हैं उस दिन से बैसाखी ने फिर कभी चोरी नहीं की।

जब वह घर लौटा था तो पहला काम भदई ने यह किया कि उसने गली के बीच से उठकर छोरवाला यह मकान लिया था और अब उसने वहाँ से भी भाग निकलने की ठान ली थी। तबसे उसकी जीवनचर्या में महान परिवर्तन आ गया था। वह पिछवाड़े से निकल कर सामने आ जाने के लिये चोरी-चकोरी की जगह चौकीदारी करने लगा था—जैसे महाजनों की, शरीफों की चिरौरी कर रहा हो कि महाराज इस नरक से मुक्ति दो। उनके समाज से अपने विरोध को त्याग कर अब वह उनका खिदमतगार और उनकी सम्पति का रक्षक बन गया था।

उस पर अविश्वास करने की जगह भागवान लोगों ने उसकी कदर की थी। वह जानते थे कि बैसाखी चोरी के कला-कौशल से, दाँव-पेचों से वाकिफ है, चोरों के गिरोहों के कई सरदार उसके मौसेरे भाई हैं उनके साथ बैसाखी की राह रस्म है। यह भी सच है कि बैसाखी जहाँ रहा और जब तक रहा, वहाँ एक तिनका भी इधर से उधर नहीं हुआ। एक-आध बार ऐसा भी हुआ कि उसने जहाँ से नौकरी छोड़ी वहाँ महीने के भीतर ही चोरों ने छापा मारा। इसलिये डरपोक सूदखोर महाजनों और झूठे और गिरहकट व्यापारियों के बीच बैसाखी की काफी पूँछ है।

वह चौकीदारी की कला में अत्यन्त निपुण भी है। एक कला जो कभी किसी ने दूसरे चौकीदारों में नहीं देखी; देखी है तो सिर्फ बैसाखी में वह यह है गश्त लगाते-लगाते वह, चोरों का सगुण बिगाड़ने के लिये और उनके पाँव उखाड़ने के लिये थोड़ी-थोड़ी देर में छींकता चलता है। कहते हैं इस दाँव का काट चोर निकाल ही नहीं पाये। इस विघ्नकारी मंत्र का निवारण उनके पास नहीं है। कुछ रात गये जो उसे छींकता सुनते हैं, हँसते हैं। लेकिन बहुत रात गये जब वह गहन गम्भीर अन्धकार को चीरता हुआ छींकता है, तो पल भर जैसे झींगुर भी सहम कर चुप हो जाते हैं और रात वास्तव में डरावनी हो जाती है।

बाजार के लोग जब घर में जाते हैं, तब यह उनका बैसाखी घर से बाहर जाता है। बाजार तो तब तक बन्द हो चुकता है, बस रह जाता है दिन भर का कूड़ा कचरा या उसको कुरेदते हुये कुछ आवारा कुत्ते। कभी-कभी कोई लावारिस गाय भी अपनी थूथड़ी से कचरे को बखेरती हुई निकल जाती है। बस इक्के-दुक्के लोग आते-जाते हैं या कभी एकाध साँड़ बेपरवाही से उधर से गुजर जाता है।

जैसे-जैसे रात बढ़ती जाती है, बैसाखी अधिक सचेत होता जाता है—

जैसे अब उसकी नींद टूट रही हो। जब सब सोते हैं, वह जागता है। इसलिये वह धीरे-धीरे दूसरों मे भिन्न हो चला है। रात भर चौकीदारी करके जब वह घर लौटता है और जब उसके साथ हाथ में धूँये से काली लालटेन और उसकी चिरसंगिनी पुरानी लाठी के अतिरिक्त, मन में बहुत से विचार भी लौटते हैं, तब वह बार-बार यही सोचता है कि गली के और लोगों मे वह भिन्न है। वह उनसे अब कहीं दूर हट कर रहना चाहता है और हमेशा जैसे उस घड़ी की प्रतीक्षा करता है, जब उसकी यह साध पूरी होगी।

लेकिन भदई अपने भाई के लाड़-प्यार की आड़ में और उसकी पीठ-पीछे अब भी कभी-कभी चोरी करता है। वास्तव मे भदई और बैसाखी, एक ही पेड़ की दो शाखों की तरह, व्यक्तिगत सम्पत्ति पर स्थित हमारे समाज में विरोधाभास की तरह जीते हैं। इन दोनों में समाज के बेजोड़ ढाँचे की, बेतरतीब व्यवस्था की विषमता जैसे मूर्तिमान हो गई हैं।

इस विरोधाभास के बीच, अपने-अपने कलांशों के साथ और बहुत से मानव-प्राणी हैं, जिनसे यह गली अलकृत है। अन्याय को सहन करते-करते और टाले से न टलनेवाली करमगति और समाज के दंड विधान के अनुसार नरक भोगते-भोगते अब वह अपनी योनि में सुखी और संतुष्ट से भी प्रतीत होते हैं। सुबह होते ही स्वस्थ स्त्री-पुरुष काम पर निकल जाते हैं, रह जाते हैं, पुराने पापी कुछ चिड़चिड़े, बुड्ढे और बदजबान लड़ाकू बुढ़ियें, जिन्होंने जिन्दगी भर शरीफों के मैले के साथ अपने जीवन का भार ढोया है, शराबी पतियों से मार खाई हैं और दुनियाँ की चोटें सही हैं। और रह जाते हैं टेढ़े-मेढ़े, मैले-कुचैले, कुरूप और बिगड़े हुए बच्चे जो या तो नाली के किनारे हाजत रफ़ा करते हैं या नाली के पानी को गिचो-लते रहते हैं।

नाली के पानी की तरह इस गली की जीवन-धारा भी बहती रहती है—एक रस, एक-सी गति से, अनवरत। अन्याय का जहर भी नरक की गली के मानव प्राणियो की नसों में भर-सा गया है। वह चुपचाप सब कुछ सहन करते हैं और जीते हैं।

कभी-कभी विरोध की आग भड़कती है और तब ताड़ी-शराब की नदियाँ बहती हैं, आपस में गाली-गलौज होती है और खून की धार बह चलती है। इस प्रकार, और सिर्फ कभी-कभी ही, भाग्य के बेबस गुलाम और इस नरक के निवासी अपने दैव के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं।

लेकिन जब शराब और ताड़ी की नदी बहती है, गाली-गलौज की बौछारें होती हैं, प्रहारों की वर्षा होती है और जब चामुंडा के खप्पर में गरम खून उमड़ता है, तब बड़े लोग—यह जिनका पिछवाड़ा है—सशंकित होकर अपनी छतों पर आ खड़े होते हैं और कामकारा में बन्दी, उनकी बुजदिल औरतें सहम कर पीछे खड़ी झरोखों से झाँकती हैं, तब पुलिस आती है और गली के मानव-प्राणियों पर सख्ती होती है। मर्दों को हवालात में ठूँस दिया जाता है, बच्चे डर से नाली में जा कूदते हैं, बुड्ढे बुढ़ियों को ठोकर मारकर अलग कर दिया जाता है और जो इस लायक हैं, उन औरतों के साथ जब्र किया जाता है। तब कहीं सामनेवाले चैन से सोते हैं, इन्तजाम करनेवाले अपना रास्ता लेते हैं और गली में अमन-अमान कायम होता है।

और बैसाखी जब यह सब देखता है, गली में उसका दम घुटने लगता है। उसे मचली आती है; वह वहाँ से दूर भाग जाना चाहता है। पहले ऐसी बात न थी। तब उसे गली के अपने साथियों पर नहीं, इस विधान पर क्रोध आता था। पर अब तो उसे क्रोध गली के नीच लोगों पर आता है।

यों बैसाखी और भदई गली क सरताज हैं और न तो वह गली के साधारण लोगों के हल्ला हुरदंग म शामल होते हैं और न हुरदंग के पार खामों को भोगते हैं, पर फिर भी बैसाखी गली के जीवन से ऊब गया है। इसलिये वह भदई को भलामानस बना देने की जल्दी में है। वह जानता है कि भला आदमी बनने के लिये गृहस्थ होना जरूरी है और इसलिये भदई को गृहस्थ बनाने का इन्तजाम भी कर रहा है। वह भदई को कई बार समझा चुका है कि प्यास बुझती है घर के पानी से, घाट-घाट का पानी पीने से नहीं।

आज वह मंडी के दो-चार लाला लोगों से रुपया-अधेली करके कुछ माँग लाया है और उसने शिवगढ़ से आये हुये अपने मिहमान की खातिर तवाजह का पूरा-पूरा इन्तजाम कर लिया है। वह शिवगढ़ के चौधरी, बैसाखी के ख्याल से, भदई के भावी ससुर हैं।

भदई के ससुर की खातिर में बैसाखी ने कुछ उठा नही रक्खा है। आज सुबह से ही वह इस काम मे जी-जान से लगा हुआ है, इसलिये नहीं कि उसके सामने आन का या शान का सवाल है। वह तो चाहता है किसी तरह से काम हो जाय। सिर्फ इसी ख्याल से वह इतना फिक्रमन्द है। इससे भी ज्यादा फिक्र उसे यह है कि कहीं शिवगढ़ के चौधरी पर इन जमादार बन्धुओं का इतिहास न खुल जाय। जब से जगन्नाथ ब्राह्मण यहाँ की चौकी का हेड होकर लौटा है, पुलिस ने बैसाखी से जैसे पुरानी दुश्मनी निकालने की ठान ली है। बैसाखी की हजार कोशिशों पर और उसके मालिक महाजनों की भरपूर कोशिश-सिफारिश के बाद भी जगन्नाथ ब्राह्मण ने भदई का नाम हिस्ट्रीशीट से कटने नहीं दिया है। इसलिये बैसाखी के मन में एक डबका बना रहता है।

अपनी ऊँची चौपाल के आदी शिवगढ़ के चौधरी गली के मकान

में यों ही नाक-भौंह सिकोड़ रहे हैं। शहर के गन्दे पाखाने, जिनके नाम से गाँव वाले शहरों को याद करते हैं, वह भी यहाँ ठीक आँखों के सामने ही हैं और इस बात से चौधरी बहुत खुश नहीं मालूम होते। अब अगर कहीं रात को भदई की हाजिरी गुल गई, तो चौधरी कल सुबह ही नौ-दो ग्यारह हो जायगे! बैसाखी को यही सब चिन्तायें हैं। वह गली के छोर तलक पहुँच गया है, क्या कभी बाहर भी निकल सकेगा?

रात हुई और नाच-गाकर गली भी सुनसान हो गई है। जाड़ों की रात है। बैसाखी अंगीठी में कच्चे कोयले डालकर उसमें आग फूँक रहा है। सुलगते कोयलों की लाली में उसका चेहरा दीप्त हो उठा है और उसके साथ चेहरे की झुर्रियों में लिखा हुआ उसका इतिहास भी स्पष्ट हो गया है। घटनाओं का महत्व नहीं। महत्व है इस बात का कि अपना अस्तित्व कायम रखने की कोशिश में वह पहले चोर बना था, फिर बना सम्पत्तिवालों का गुलाम चौकीदार, जो भूत की तरह घूम-घूम कर और चिल्ला-चिल्ला कर अपने पहले रूप की भर्त्सना करता था और अब उस उद्देश्य से वह चाटुकार भी बन गया है—अन्यथा वह क्यों शिवगढ़ के चौधरी साहब की इस तरह खुशामद करता—चौधरी आपका यों बोल-बाला है, आप यह हैं, आप वह हैं, आप सब कुछ हैं—और क्यों इस तरह उनकी ताबेदारी बजाता!

आज दरयादिली और खातिरदारी में बैसाखी ने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी है। आज वह चौकीदारी पर भी नहीं गया है। चौधरी पर यह असर डालने के लिये कि भदई नाकारा आदमी नहीं है उसने भदई को भी आज चौकीदारी पर भेजा है। साथ ही वह यह भी सोचता है कि सिपाही से कह सुन कर या धेलो-पावली चटाकर वह तो हाजिरी के मामले को सँभाल भी लेगा, पर तुनकमिजाज भदई से कुछ कहते या करते न बनेगा।

जब रात के दो बजे, गश्त के सिपाहियों के बूट की आवाज सुन, बैसाखी बाहर आया सिपाही ने अफसराना ढंग से पूछा, "भदई है ?"

"है, दीवान जी !" बैसाखी ने जवाब दिया। फिर दोनों में कुछ गुप-चुप बातचीत हुई और अलग हो गये।

किस्मत की खूबी देखिये चौधरी साहब की आँख खुली भी तो कब !

"क्या था, चौधरी ? बच्चा भदईराम की हाजिरी लगती है ?" उन्होंने पूछा।

"नहीं, चौधरी, सिपाही यारबाश आदमी है। कभी-कभी आजाता है रात को वक्त पूछने। भदई नहीं है, तो आज खड़ा होकर चला गया— नहीं तो भदई से दो-चार बात भी कर लेता है। गश्त लगाते-लगाते बेचारा थक जाता होगा न !" बैसाखी ने कहा।

चौधरी ने किया 'हूँ' और चुप हो गये। और भलेमानस बन कर पिछवाड़े से निकल भागने को बैसाखी की यह कोशिश भी अकारथ गई।



शिकवा-शिकायत

बुढ़ापे के दाँतों की तरह, प्रहर बीते दीवाली के दिये एक-एक कर पंक्ति से टूटते जा रहे हैं। मानव की अँधेरी दीवाली दियों से कम नहीं हुई है बढ़ती जा रही है। सूने आसमान में लंगर की तरह कुछ कंदील लटके हुये हैं और उनके ऊपर हैं बहुत ऊपर के जगमगाते तारे। तारों की छाया में कस्बा ऊँघने लगा है, जागते हैं हारे-जीते जुआरी, तिजोरी खोलकर लक्ष्मी की राह देखने वाले महाजन और साल भर के लिये सगुन बनाने की फिक्र में उठाईगीर और चोर। आज आवारा लड़के भी घूम फिर कर घर में आ बैठे हैं—होली-दीवाली रात-बिरात घूमते हुये वह डरते हैं, क्योंकि इन रातों को अमली अमल करते हैं और तांत्रिक मन्त्र फूकते हैं। आज बरस दिन के त्योहार पर हिन्दुओं की इस बस्ती में वेश्यायें भी आराम करती हैं।

हर चीज का एक केन्द्र होता है, जिसके चारों ओर वह नियमित गति से घूमती है, चक्कर काटती है। अणु-परिमाणु से लेकर सौर-मंडल तक सभी की यही गति है। इसी गति का नाम जीवन है। और मृत्यु क्या है? कौन जाने, किन्तु जीवन नाम इसी गति का है। जीवन और मृत्यु के बीच की भी एक अवस्था होती है, जब गतिभंग हो जाती है, चक्कर लगानेवाली वस्तु अपने क्षेत्र से छिटक कर कहीं दूर जा पड़ती है और जब उसका केन्द्र अपने क्षेत्र के केन्द्र से पृथक हो जाता है। जो इस

अवस्था को पहुँच जाता है उसे जीवनमृत कहते हैं हमारा इन्हीं जीवनमृत की श्रेणी में है।

घर-घर दीपावली जली थी। चन्द्रकान्त के घर जली थी वही पुरानी लालटेन जो नियमित रूप से रोज रात को जलकर उसके सूने घर के अन्धकार को दूर करने की कोशिश करती है। यह लालटेन, सात समन्दर पार से आई हुई डीट्ज की जर्मन लालटेन, उसके जीवन की अँधेरी रातों की संगिनी यह छोटी-सी लालटेन उसके नज़दीक है। पर न जाने क्यों इस जानी-पहिचानी लालटेन ने उसे अनायास ही दिवाली मनानेवाली बाहर की दुनियाँ से दूर कर दिया है।

अपने कमरे की खुली खिड़की से वह धीरे-धीरे फीकी पड़ती हुई रोशनी को देखता है। उसी खिड़की की राह, और बुझते दीपकों की धुयें-तेल की गंध को ढोती हुई हवा का कोई झोंका खिड़की के पल्ले को कभी-कभी खड़काता हुआ आ जाता है, जो इस बीमार आदमी के मन में तरह-तरह के भाव और विचार उपजा जाता है।

दीवाली की रात की, दिल में गुलाबी सर्दी की गुदगुदी छिपाये हुए यह हवा उससे कहती है—देखो चन्द्रकान्त, अब गरम-बिस्तर, कपड़े तैयार कराने का वक्त आ पहुँचा है। खुद तुम्हें ही अपनी फिक्र करनी होगी; तुम्हारी खबरगीरी करनेवाला और है ही कौन! और जब तक जीना है तब तक तो यह सब करना ही होगा!

न जाने कितनी बातों की याद उसके मन के आँगन में, धरती पर आसमान के बादलों की छाया-सी आती और चली जाती है। अनायास ही वह आह भरता है और कहता है—अरे, अब और जीकर मेरा होगा ही क्या! और जीना चाहूँ भी तो अब मैं हूँ ही कितने दिन का। मन हार गया है, तन छीजता जाता है।

जब तक सांस है तब तक आस है और यही आशा उसे अपने धीमे स्वर में जैसे आश्वासन देती है---क्यों नहीं अच्छे हो सकते ? शीघ्र ही स्वस्थ हो जाओगे, चन्द्रकान्त !

और यह जीवन मूल चन्द्रकान्त फिर से जी उठने की सम्भावना से भय कातर हो काँप उठता है। वह अब और अधिक जीना नहीं चाहता, उसे जीने की इच्छा नहीं। बाहर की दुनियाँ में और उसमें अब पहचान भी कितनी बाकी रह गई है जिसकी खातिर वह जीये !

तार टूटा नहीं। चन्द्रकान्त कुछ सोच रहा है, शायद पिछली बातें, उन दिनों की बातें जब वह जीवित था, ऐसा जीवनमृत न था······

लाली छोटी थी—चन्द्रकान्त से करीब एक युग छोटी—बारह बरस। चन्द्रकान्त तो तब तक परिपक्व हो चुका था, मन और बुद्धि दोनों से। शायद इस तरह पक जाना कोई भली बात नहीं है, क्योंकि फिर तो शीघ्र ही मन का स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है और मनुष्य मन का रोगी हो जाता है। किन्तु लाली सचमुच छोटी थी और केवल इस अर्थ में ही नहीं, चन्द्रकान्त से हर तरह से अधिक स्वस्थ थी। इसीलिये यद्यपि उसके हृदय में प्रेम अपरिमित था, वहाँ चन्द्रकान्त की ऐसी विकल प्यास न थी, अपनी भ्रान्ति बस सोचता था—लाली के हृदय में उसका ऐसा प्रेम नहीं।

लाली उसके जीवन में बहुत बाद को आई थी। चन्द्रकान्त का हृदय पहले ही खण्डित पात्र बन चुका था, प्यास और भी तीव्र हो चुकी थी। किन्तु खण्डित पात्र की प्यास को बुझावे कौन ?

फिर भी, लाली यदि चतुर होती, अनुभवी होती और चाहती तो वह चन्द्रकान्त को सुखी और सन्तुष्ट बना सकती थी। लेकिन कच्ची उम्र की इस बालिका को अपना ही खेल चाहिये था, वह खुद भी तो खिलना चाहती थी, यह उसकी उम्र का तकाजा था।

अपनी छोटी उम्र और अनुभव हीनता के कारण लाली ने एक गलती की। चन्द्रकान्त से उसने स्नेहार्द्र होकर एक बार भी तो कभी नहीं पूछा—'प्यास लगी है?' अपने धनुषाकार ओठों पर कली-सी मुसकान खिलाकर उसने मधुप को कभी भी तो प्यार से आमंत्रित नहीं किया।

वह रूपवती थी। रूपगर्विता होने का उसे पूरा अधिकार था और इसलिये माननीय बनकर अपना मान रखवाने का भी उसे हक था। छोटी उम्र की, उस सुन्दरता की पुतली को यह सब कुछ शोभा देता था। चन्द्र-कान्त उसका मान रखता था उसे अपना सर्वस्व देता था, किन्तु लाली को भी तो चन्द्रकान्त की भूख-प्यास का कुछ ध्यान रखना चाहिये था। वह स्त्री थी, स्त्री में माता निहित है और इसलिये जो स्त्री अपने कर्त्तव्य के इस अंश को भुला देती है वह अधूरी है, उसकी भूल अक्षम्य है।

किन्तु इस छोटी उम्र की लाली ने तो सुन रक्खा था कि प्रेमी की प्यास कभी पूरी नही होनी चाहिये। उसे दीपक की लौ के आस-पास घूमने वाले शलभ की तरह भटकाते रहना चाहिये। उसे अपनी मुट्ठी में रखना चाहिये। संक्षेप म प्रेमी के मस्तक पर से प्रेमिका के चरणों की जावक का तिलक कभी मिटना नहीं चाहिये।

पर चन्द्रकान्त सदैव के लिये इस विधान से शासित होने वाले प्रेमियों में न था। वह प्रेम में जैसे निष्कपट रूप से अपना सर्वस्व सौंप देता था वैसे ही अपने प्रति भी वह प्रेम का निष्कपट व्यवहार चाहता था, जिसमें चाहे मान-अभिमान, नाज-नखरा कितना ही हो, दुराव न हो, न सौदागिरी हो और न चतुराई की भावना हो।

इन विषम तत्वों के संघर्ष का फल यह हुआ कि दुनिया में कई बार ठोकरें खाया हुआ चन्द्रकान्त लाली से दूर हट कर अपने ही भीतर पैठता गया और इस क्रम के साथ उसकी भावनायें भी उसके अभ्यंतर में केन्द्री-

भूत होती गई। लाली उसे प्रेम नहीं करती, वह उसे इस योग्य नहीं समझती, वह अन्यत्र अपना विकास चाहती है—इसी प्रकार की भावनायें उसके भीतर जड़ पकड़ती गईं और अन्त में अविश्वास ने उसके मन पर आधिपत्य जमा लिया।

लाली से वह दूर हटता गया और कुछ ही दिन बाद वह उससे बहुत दूर पहुँच गया। लाली वहीं रही और उसके हृदय में चन्द्रकान्त के प्रति वही अगाध प्रेम भी रहा। विश्वास भी अपरिमित था कि आखिर रूठ कर जायेंगे कहाँ, वह मेरे हैं। फिर भी अपने बचपने में वह चन्द्रकान्त को मनाने के लिये नहीं गई, उसकी ओर एक कदम भी न बढ़ी। चन्द्रकान्त! वह मुझसे नाराज थोड़े ही हो सकते हैं—वह यही सोचती थी। एक चन्द्रकान्त का ही तो उसे भरोसा था। चन्द्रकान्त को मनाने वह क्यों जाये, खुद वही न आयेंगे उसके पास—वह उनकी जो है!

किन्तु चन्द्रकान्त बहुत दूर जा चुका था, और विनम्रता के भीतर छिपा हुआ जिद्दी, वह चन्द्रकान्त लाली के पास न आया, न आया।

बहुत दिनों तक तो लाली समझ भी न सकी कि माजरा क्या है! लेकिन जब अनेक बार अविश्वास करने पर भी अन्त में उसे विश्वास करना पड़ा कि भाग्य ने चन्द्रकान्त को उससे छीन लिया है तो वह आँधी के झोंको को न सह सकने वाले दीपक की तरह, अचानक ही बुझ गई। तब कहीं क्रोधान्ध चन्द्रकान्त की आँखें खुलीं; आँखें खुलीं तो अँधेरे में!

उस वक्त से आज तक उसके जीवन में जो घटनायें घटित हुईं, उसका परिणाम चन्द्रकान्त जैसा आज है, वह है। मन और शरीर से टूटा हुआ, एकाकी, शून्य में रहने वाला, जीवन से विमुख, मृत्यु की ओर उन्मुख।

चन्द्रकान्त अपनी चारपाई पर लेट गया। आँखें मूद लीं। थके हुये

रोगी को हलकी-सी झपक आ गई। और मुँदी हुई आँखें स्वप्नलोक में जा खुलीं, जहाँ सब से आगे खड़ी थी लाली। इसके पीछे बहुत-सी छाया-कृतियाँ थी जो धुंधली होकर विलीन हो गई थी, उसके सामने रह गई थी केवल लाली—पूनो के चाँद-सी, जब तारे भी छिप-से जाते हैं।

लाली का रूप वही था, किन्तु अब वह पहला गर्व न था जो उसे राजकुमारियों का-सा भृकुटि-विलास, मंद-हास और दृष्टि-निपात देता था। उसके स्थान पर अब तपस्विनियों का-सा करुणा का भाव आ गया था, जिसके सामने आगन्तुक की आँखें झुक जाती थीं। लाली की बड़ी-बड़ी आँखों में करुणा थी, चिबुक के छोटे-से गड्ढे में भी करुणा थी और धनुष-से ओठों से भी अब वही भाव प्रकट होता था—प्रत्यिञ्चा अब बहुत खिची हुई न थी।

चन्द्रकान्त अपनी रूपगर्विता मानिनी को यों न देख सका। उसका हृदय भर आया और उसने आर्द्र स्वर में पूछा—उदास क्यों हो लाली?

लाली की आँखें छलछला आईं, ओठ फड़के, किन्तु वह उस क्षण कुछ कह न पाई। चन्द्रकान्त ने लाली को अपनी ओर खींच लिया और वह सिर झुकाये, शरीर सिमटाये. चन्द्रकान्त के वक्षस्थल में छिप गई। कुछ देर दोनों मौन रहे। लाली ने कहा—क्यों जी, मैं मूर्ख थी तो तुम तो बुद्धिमान थे। हम दोनों का जीवन व्यर्थ ही क्यों बिगड़ता? मेरा गर्व चूर करके तुमने क्या पाया? हाय, यह न सोचा मैं गर्व किस पर करती थी?

स्वप्न विलीन हो गया और उसके साथ लाली भी चली गई। उसने कितने प्यार से, कितनी शोखी से शिकायत की थी! और चन्द्रकान्त उस शिकायत का जवाब भी तो नहीं दे पाया था!

वह अकेला है। किराये का कमरा है। काली लालटेन है। और आगे, उसकी ओर बढ़ती हुई मृत्यु की काली छाया है जो दिवाली के

बुझे हुये दीपकों से गंध चुरा कर दबे पाँव उसकी ओर बढ़ी आ रही है। चन्द्रकान्त ने आगन्तुक से हँस कर पूछा—'क्या सचमुच ले चलोगी मुझे लाली के पास ? इस बार मैं उसे शिकायत के लिये मौका न दूँगा।'



रोगी को हलकी-सी झपक आ गई। और मुँदी हुई आँखें स्वप्नलोक में जा खुलीं, जहाँ सब से आगे खड़ी थी लाली। इसके पीछे बहुत-सी छाया-कृतियाँ थी जो धुधली होकर विलीन हो गई थीं, उसके सामने रह गई थी केवल लाली—पूनों के चाँद-सी, जब तारे भी छिप-से जाते हैं।

लाली का रूप वही था, किन्तु अब वह पहला गर्व न था जो उसे राजकुमारियों का-सा भृकुटि-विलास, मंद हास और दृष्टि-निपात देता था। उसके स्थान पर अब तपस्विनियों का-सा करुणा का भाव आ गया था, जिसके सामने आगन्तुक की आँखें झुक जाती थी। लाली की बड़ी-बड़ी आँखों में करुणा थी, चिबुक के छोटे-से गड्ढे में भी करुणा थी और धनुष-से ओठों से भी अब वही भाव प्रकट होता था—प्रत्यिञ्चा अब बहुत खिंची हुई न थी।

चन्द्रकान्त अपनी रूपगर्विता मानिनी को यों न देख सका। उसका हृदय भर आया और उसने आर्द्र स्वर में पूछा—उदास क्यों हो लाली?

लाली की आँखें छलछला आईं, ओठ फड़के, किन्तु वह उस क्षण कुछ कह न पाई। चन्द्रकान्त ने लाली को अपनी ओर खींच लिया और वह सिर झुकाये, शरीर सिमटाये, चन्द्रकान्त के वक्षस्थल में छिप गई। कुछ देर दोनों मौन रहे। लाली ने कहा—क्यों जी, मैं मूर्ख थी तो तुम तो बुद्धिमान थे। हम दोनों का जीवन व्यर्थ ही क्यों बिगड़ता? मेरा गर्व चूर करके तुमने क्या पाया? हाय, यह न सोचा मैं गर्व किस पर करती थी?

स्वप्न विलीन हो गया और उसके साथ लाली भी चली गई। उसने कितने प्यार से, कितनी शोखी से शिकायत की थी! और चन्द्रकान्त उस शिकायत का जवाब भी तो नहीं दे पाया था!

वह अकेला है। किराये का कमरा है। काली लालटेन है। और आगे, उसकी ओर बढ़ती हुई मृत्यु की काली छाया है जो दिवाली के

बुझे हुये दीपकों से गंध चुरा कर दबे पाँव उसकी ओर बढ़ी आ रही है।
चन्द्रकान्त ने आगन्तुक से हँस कर पूछा—'क्या सचमुच ले चलोगी मुझे लाली के पास ? इस बार मै उसे शिकायत के लिये मौका न दूँगा।'



टैक्स्ट बुक

हरी अब अँगरेजी स्कूल में पढ़ने लायक हो गया है। उसने इसी साल तहसीली मदरसे से दरजा चार पास किया है और अब वह अंगरेजी स्कूल की पाँचवी क्लास में दाखिल होगा, जिसे स्कूल वाले स्पेशल क्लास भी कहते हैं।

सुखिया यदि सोचती और उन मुसीबतों का खयाल करती, जिनके बाद वह हरी को इस काबिल बना सकी थी, इतना बड़ा कर सकी थी, तो उसे खुद भी ताज्जुब होता। लेकिन सुखिया को न सोचने की फुरसत थी, न ताज्जुब करने की, वह जीवन की गति के साथ अनायास बहने लगी थी। उसकी साँसों का क्रम जीवन के क्रम के साथ हिल-मिल गया था, घुल-मिल गया था।

वैसे भी, सोचने और स्वप्न देखने का काम तो बच्चों का होता है। हरी न जाने कब से, न जाने कितने दिन पहले से, अंगरेजी मदरसे का (जिसे वह गर्व से हाई स्कूल कहता था) स्वप्न देखा करता था। बगीचे से सजी हुई, स्कूल की पत्थर की खूबसूरत और आलीशान इमारत; उसमें पढ़ने वाले, वे निकर्स और सफेद कमीजों वाले हँसते-खेलते और कभी-कभी अंगरेजी में गालियाँ देने वाले लड़के; क्लास के कमरों की मेज कुर्सियाँ; खेल का मैदान और उसमें गड़े-हुए रंगीन गोलपोस्ट और हाकी फुटबाल—ये सभी चीजें हरी को बारी-बारी से आकर्षित किया करती थीं

और खास कर तब जब वह मदरसे के मूँज के बने हुए मैले फर्श के टुकड़ों से ऊब कर और रूखे मुदर्रिसों से छुट्टी पाकर शाम को घर लौटा करता था। घर का रास्ता हाई-स्कूल के पास से ही गुजरता था और हरी करीब-करीब रोज ही बचपन की हसरत भरी निगाहों से स्कूल को देख लिया करता था।

सुखिया एक विधवा ब्राह्मणी है। मेहनत मजदूरी करके वह अपने इकलौते लड़के का पालन पोषण करती है। लड़के का पूरा नाम हरिश्चंद्र और घर का और पास पड़ोस और मोहल्ले का नाम हरी है।

हरी की उम्र पूरे दस साल की है। इसका यह अर्थ हुआ कि हरी के पिता का देहांत हुए भी पूरे दस साल हो गए। पति का देहांत और पुत्र का जन्म ये दोनों महान घटनाएँ सुखिया को एक ही दिन और दो ही एक क्षण के अंतर से देखनी पड़ी थीं।

उस दिन वह अंतिम समय तक भले की उम्मीद लगाए मरने वाले की चारपाई की पाटी पर सिर रक्खे बैठी रही थी। लेकिन जब सबके देखते-देखते रामचंद्र के प्राण-पखेरू उड़ने लगे और जाने वाले को रोकने के बजाय पास-पड़ोस के सब लोग उसे नीचे लेने लगे, सुखिया ने अनुभव किया था जैसे किसी ने एकाएक उसकी कोख में जोर से प्रहार किया हो। दरद से उसका गला घुटने लगा था और पति की लाश को पृथ्वी पर पड़ी हुई छोड़ कर वह बगल वाली कोठरी में जा लेटी थी। सुखिया पूरे दिनों से थी।

राम नाम का कठोर सत्य घोषित करने वाली, रामचंद्र की लाश को ले जाने वालों की, गंभीर आवाज और नवजात शिशु की महीन-सी चीख, एक ही साथ उसके कानों में पड़ी थी। दाई ने कहा था, लड़का हुआ है।

लड़का है तो क्या? सुखिया क्रोध से उसका गला घोंट देना चाहती

टैक्स्ट बुक

हरी अब अँगरेजी स्कूल मे पढ़ने लायक हो गया है। उसने इसी साल तहसीली मदरसे से दरजा चार पास किया है और अब वह अंगरेजी स्कूल की पाँचवी क्लास मे दाखिल होगा, जिसे स्कूल वाले स्पेशल क्लास भी कहते हैं।

सुखिया यदि सोचती और उन मुसीबतों का खयाल करती, जिनके बाद वह हरी को इस काबिल बना सकी थी, इतना बड़ा कर सकी थी, तो उसे खुद भी ताज्जुब होता। लेकिन सुखिया को न सोचने की फुरसत थी, न ताज्जुब करने की, वह जीवन की गति के साथ अनायास बहने लगी थी। उसकी साँसों का क्रम जीवन के क्रम के साथ हिल-मिल गया था, घुल-मिल गया था।

वैसे भी, सोचने और स्वप्न देखने का काम तो बच्चों का होता है। हरी न जाने कब से, न जाने कितने दिन पहले से, अगरेजी मदरसे का (जिसे वह गर्व से हाई स्कूल कहता था) स्वप्न देखा करता था। बगीचे से सजी हुई, स्कूल की पत्थर की खूबसूरत और आलीशान इमारत, उसमें पढने वाले, वे निकर्स और सफेद कमीजों वाले हँसते-खेलते और कभी-कभी अगरेजी में गालियाँ देने वाले लड़के; क्लास के कमरों की मेज कुर्सियाँ; खेल का मैदान और उसमें गड़े-हुए रगीन गोलपोस्ट और हाकी फुटबाल—ये सभी चीजे हरी को बारी-बारी से आकर्षित किया करती थीं

और खास कर तब जब वह मदरसे के मूज के बने हुए मैले फर्श के टुकड़ों से ऊब कर और रूखे मुदर्रिसों से छुट्टी पाकर शाम को घर लौटा करता था। घर का रास्ता हाई-स्कूल के पास से ही गुजरता था और हरी करीब-करीब रोज ही बचपन की हसरत भरी निगाहों से स्कूल को देख लिया करता था।

सुखिया एक विधवा ब्राह्मणी है। मेहनत मजदूरी करके वह अपने इकलौते लड़के का पालन पोषण करती है। लड़के का पूरा नाम हरिश्चन्द्र और घर का और पास पड़ोस और मोहल्ले का नाम हरी है।

हरी की उम्र पूरे दस साल की है। इसका यह अर्थ हुआ कि हरी के पिता का देहांत हुए भी पूरे दस साल हो गए। पति का देहांत और पुत्र का जन्म ये दोनों महान घटनाएँ सुखिया को एक ही दिन और दो ही एक क्षण के अंतर से देखनी पड़ी थीं।

उस दिन वह अंतिम समय तक भले की उम्मीद लगाए मरने वाले की चारपाई की पाटी पर सिर रक्खे बैठी रही थी। लेकिन जब सबके देखते-देखते रामचंद्र के प्राण-पखेरू उड़ने लगे और जाने वाले को रोकने के बजाय पास-पड़ोस के सब लोग उसे नीचे लेने लगे, सुखिया ने अनुभव किया था जैसे किसी ने एकाएक उसकी कोख मे जोर से प्रहार किया हो। दरद से उसका गला घुटने लगा था और पति की लाश को पृथ्वी पर पड़ी हुई छोड़ कर वह बगल वाली कोठरी मे जा लेटी थी। सुखिया पूरे दिनो से थी।

राम नाम का कठोर सत्य घोषित करने वाली, रामचंद्र की लाश को ले जाने वालों की, गंभीर आवाज और नवजात शिशु की महीन-सी चीख, एक ही साथ उसके कानों में पड़ी थी। दाई ने कहा था, लड़का हुआ है।

लड़का है तो क्या ! सुखिया क्रोध से उसका गला घोंट देना चाहती

थी। दो ही क्षण बाद लक्ष्य आत्महत्या की ओर फिर गया। लेकिन बच्चे का क्या होगा? यह सोच कर वह अपने बच्चे के लिए जीवित रही। उसकी आँखों से पहला पागलपन जाता रहा। जो हाथ बच्चे की गुलाबी गर्दन पर पड़ने वाला था, कंपनशून्य और स्थिर होकर बालक के नरम कपोलों को सहलाने लगा। सुखिया उसके पूरे चेहरे पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगी। दूसरे दिन उसने बालक का मुँह भी चूम लिया।

तालाब में पत्थर फेंकने से लहरें उठती हैं और कुछ देर घूम फिर कर विलीन हो जाती हैं। रामचद्र की जवान मौत ने सबका दिल हिला दिया था। लोगों को सहानुभूति हुई, सुखिया पर दया आई। कुछ ने लड़के को सत्यानाशी और मूलिया कहा। लेकिन फिर, जो हमेशा से होता चला आया है, वही हुआ। लोग उदासीन होने लगे। हरी था, लेकिन एक असहाय शिशु, जिसके साथ सुखिया दुनिया में अकेली रह गई!

अकेली क्यों? उसका भी अपना एक संसार बन गया था। अपने को मिटाती थी वह हरी को बनाने के लिए। वह हरी को पाने के लिए ही तो सब कुछ खो चुकी थी। हरी का और उसका एक संसार था।

जुलाई की नवी तारीख है। स्कूल के दाखिले के दिन हैं। हरिश्चंद्र चार घड़ी के तड़के ही चारपाई से उठ गया है। मां से कपड़ों के लिए, किताबों और कापियों के लिए और जूतों के लिए झगड़ने लगा है। सुखिया नित्य की तरह अपनी चक्की से व्यस्त है।

सुखिया के पड़ोसी सेठ मदनलाल भाप से चलने वाली चक्की का आटा पसंद नहीं करते। उनका खयाल है कि हाथ की चक्की का आटा इंजिन से पिसे हुए जले-भुने आटे से कहीं अधिक लाभदायक होता है। इसी बहाने सुखिया को दो-चार आने की आमदनी हो जाती है।

चक्की अपनी घहराती घूमती आवाज से चल रही है, जैसे झाभा के

देश में घहराती घूमती आवाज का कारवा अपने ऊँचे नीचे रेतीले पथ पर अज्ञात दिशा की ओर युगों से चला जा रहा हो। सुखिया कभी-कभी एक हाथ से खोंच भर-भर कर चक्की के मुँह में अन्न डालती जाती है, चक्की के पाट को घुमाती जाती है और अलसाए हुए सुबह की बेखुदी मे और चक्की की घहरती-घूमती आवाज में सब कुछ भूले हुए है।

हरी वास्तविकता के अधिक निकट है। उसे अँधेरे पर झुँझलाहट आती है। वह सूरज की निकासी के लिए अधीर है। ओह, न जाने कब? —स्कूल जाने का समय न जाने कब आएगा?

छः भी बजे। सभी लड़कों ने लम्बी छुट्टियों के बाद बड़े उत्साह से स्कूल जाने की तैयारियाँ की हैं। रामू हरी को लिवा ले चलने के लिए आया है। वह पैरों मे चमकीला सस्ता नया जूता पहने है, ऊपर खाकी निकर है जो उसे बड़े भाई से छोटा हो जाने के बाद मिला है। स्काउटिंग की खाकी कमीज नेकर के भीतर ठुसी हुई है। उसके एक हाथ में नई कापियाँ और किताबे हैं।

हरी की नजर अपने कलम पर गई। होल्डर भी पुराना है और निब भी। होल्डर का तो रोगन भी मैला हो गया है और कहीं-कहीं से उचट भी गया है। बात दरअसल यह है कि सुखिया ने अपने पति का एकमात्र यह कलम आज तक बड़े जतन से सेंत कर रख छोड़ा था—शायद आज के दिन के लिए ही और वही कलम उसने वक्त पर निकाल कर हरी को दे भी दिया है। साथी के नए कलम के बाद अपने पुराने कलम को देख कर बालक का मन खिन्न होने लगा है।

उसके पास तो जूतियाँ भी पुरानी हैं और वह भी इसी कस्बे के चमारो की बनाई हुई। निकर की जगह उसके पास चिरैवाँ किनारी की नाग-पुरी मोटी धोती है। उसकी गबरून भी कमीज भी सिकुड़ी हुई और

घर की धुली है। वह एक साल की पहनी हुई है और बटन भी उसमें पैसे के आठ वाले टीन के हैं।

नई आशाओं से दीप्त और नई कामनाओं से खिला हुआ, बालक का वह भोला चेहरा अब फीका पड़ गया है। वह अपने पुराने कलम को कहीं गिरा देना चाहता है, ताकि नए और चमकते निब वाला नया पेन खरीद सके। वह मन में सोचता है, कैसा अच्छा हो अगर कमीज कहीं भूल से छूट जाय और खो जाय!

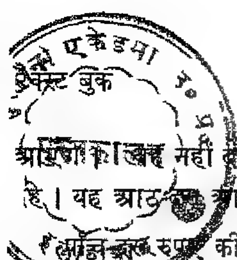
रामू के साथ दरवाजे तक जाकर वह वापिस लौटा—'और अम्मा, फीस के लिए और किताबों के लिए रुपए?' सुखिया ने उसे पाँच रुपये दिए।

सहसा किसी ने छींक दिया। सुखिया ने हरी को वापिस बुला लिया और एक पेड़ा खिला, उस पर एक घूँट पानी पिला कर जाने की आज्ञा दी। हरी, अपने और रामू के बीच जो अंतर है, उसे भूल गया।

'बेटा, फीस माफ करा लेना,' सुखिया ने हरी को याद दिलाने के लिए जाते-जाते कह दिया। हरी का चेहरा एक बार को तमतमा कर फिर उतर गया। रामू के सामने अम्मा ने फीस माफ कराने के लिए क्यों कह दिया?—हरी के मन में यही एक प्रश्न अटके हुए शर की तरह बार बार चुभ-चुभ कर खटक रहा था।

सुखिया अपने बच्चे को लाड़-प्यार से पालती थी, लेकिन बड़ी होने की वजह से उसके नन्हें-से सुकुमार डर को पूरी तरह से समझने में असमर्थ थी, और फिर सब से बड़ी मजबूरी थी—गरीबी!

पीस-कात कर वह जो कुछ पैदा करती थी, दो प्राणियों के लिए काफी हो जाता था। रोज का खर्च चला कर सुखिया महीने में चार-छः आने बचा भी लेती थी, इस खयाल से कि मेला-दशहरा पर हरी के काम



[illegible] वह नहीं देख सकती उसका लाल किसी का मुँह देखा होकर है। यह आठ [illegible] आने ऊपर के आले में रक्खे बोइया में पड़े रहते थे।

[illegible] रुपए की पूँजी सुखिया के पास और भी थी। कभी-कभी जब हरी के मामा-मामी आते तो अपनी पेट काट कर भानजे को एक-दो रुपए दे जाते थे। इस रकम को सुखिया ने जेट-माँटों के नीचे जमीन में दबा दिया था—हरी की बहू को मुँह दिखाई में हँसली गढ़वा कर देने के लिए।

सुखिया ने आज तक इज्जत से जिंदगी बसर की थी। औरों के सामने पैसे, दो पैसे को भी हाथ नहीं पसारा। खुद भूखी रह कर कभी-कभी रात रात-भर चक्की चलाती थी। हरी को गुड़ और पराँठा खिला कर सुला देती और खुद आँखों में ही रात गुजार देती थी। दोपहरी तो हमेशा ही उसके ऊपर मे गुजरती थी।

हरी स्कूल से हँसी-खुशी लौटा है! माँ के चुमकारने का बदला वह तकाजों से दे रहा है। 'अम्मा, हमको खाकी कमीज और निकर बनवा दो।" "अम्मा, हमको अँगरेजी जूते दिलवा दो।' अम्मा, हाँ, किताबों को और रुपए चाहिएँ।" पहले दिन सीखा हुआ सबक हरी अपनी अम्मा को इस प्रकार सुनाता रहा।

हरी की ख्वाहिशें पूरी हो गईं। लेकिन दूसरे दिन का सबक भी अम्मा को फिर वैसे ही सुनाया जाने लगा। "अम्मा, आठ सादी कापियाँ चाहिएँ, एक कापी ड्राइङ्ग की चाहिए, एक ड्राइङ्ग बक्स १॥) वाला—जिसका परकाल अच्छा होता है, एक रबर, एक पैमाना, और अम्मा हाँ, होल्डर और निब।"

"बेटा, फीस माफ हो गई?" सुखिया ने पूछा।

"अम्मा, फीस माफ वालों की पढ़ाई अच्छी नहीं होती—और अम्मा, सब लड़के तो फीस देते हैं। अम्मा, फीस तो बस गरीब लड़कों की माफ

होती है।" हरीश का खयाल था कि अँगरेजी स्कूल हाई-स्कूल ही कहाँ रहा अगर फीस माफ कराके वहाँ पढ़ा जाय। वह तो चटसाल मे ही पढ़ने के बराबर होगा। गर्व तो उसे फीस के ऊपर होता!

इस बार सुखिया ने वैधव्य की निशानी अपनी चाँदी की चूड़िया गिरवी रख कर लड़के की फरमाइशें पूरी कीं। लेकिन साथ ही फीस माफ करा लेने की ताकीद भी कर दी।

आठ ही दिन और बीते हैं। हरी स्कूल से छुट्टी से पहले ही लौट आया है। उसका मुँह उतरा हुआ है, आँखें रोने से कुछ लाल हैं।

बहुत पूछने पर हरी ने बताया कि उसकी फीस माफ नहीं हुई है और मास्टर ने एक किताब न होने की वजह से उसे क्लास से निकाल दिया है।

"फीस माफ नहीं हुई!"—सुखिया ने कहा, और उसका कलेजा धक से रह गया। वह बेचारी न समझती थी कि बिना फीस की अर्जी के और चारा ही क्या था। निर्णायकों का भी क्या दोष है? सौ-दो सौ अर्जियों के बारे में ऊपरी बातो के सिवा और जाना भी क्या जा सकता है! और जब कि दो घंटे के थोड़े-से वक्त में ही उन्हे अपना निर्णय देना हो! सिफारिश और कैफियत के अलावा निर्णय के आधार और हो ही क्या सकते हैं!

सुखिया असमर्थ थी, मौन थी और परवशता के कारण गम्भीर थी। "अम्मा टेक्स्ट बुक!" हरी ने कहा।

सुखिया ने निश्चय कर लिया कि हरी को वह कल से अँगरेजी स्कूल में न जाने देगी, वह उसे मुनीमाई पढ़ाएगी। लेकिन इस संकल्प के बाद भी यदि कोई दूसरा व्यक्ति सुखिया को ठीक यही सलाह देता तो, निश्चय ही, सुखिया बाघिन की तरह पलट कर यही उत्तर देती—'तुम

क्यों नहीं पढ़ा लेती अपने लड़के को मुनीमाई ? तुम्हारे लड़के के ही जी है ·· ···" असल में सुखिया के मन में हमेशा से यह आकांक्षा रही थी कि वह अपने लड़के को पढ़ाएगी और उसे टोप लगाए हुए साहब की तरह देखेगी। क्या ज्योतिषी का कहना सच न होगा कि हरी कुलदीपक होगा, पढ़ेगा-लिखेगा, ऊँचे ओहदे पर पहुँचेगा और एक दिन सुखिया के दरवाज़े हाथी झूमेगा ?—ज्योतिषी का कहना जरूर सच होगा !—सुखिया यही सब सोचती है और ऐसा कुछ विश्वास उसके मन में जम गया है।

"बेटा, टिकस बुक किसी से माँग नहीं लेते जिन लड़कों ने किलास पास करली है उनमें से किसी से ?"—सुखिया ने कहा और हरी अपनी अम्मा के उच्चारण पर खिलखिला कर हँस रहा था।

जब हँस चुका तो हरी ने माँ के सवाल का उत्तर दिया—"अम्मा, किताब नई बदली है।"

"कमबख्त हरसाल किताबें बदलते हैं," सुखिया ने कहा। दरअसल शिक्षाविभाग की इस कुप्रथा की बात सब कहीं और सब किसी को ज्ञात हो गई है।

"अम्मा, टैक्स्ट बुक, रोशनाई की टिकियें, शीशे की दवात और सोख्ता···", सोते-सोते हरी ने कहा और कहते-कहते वह गहरी नींद से सो गया। सचमुच बचपन एक नियामत है। वह ऐसी सफेद चादर है, जिस पर कोई दाग नहीं जमता।

हरी सुख की नींद सो रहा था, सुखिया करवटें बदल रही थी। चिन्ताएँ उसे घेरे थीं, वह उसे खाए लेती थीं। फिक्र में नींद कहाँ ? जब बहुत कोशिशों के बाद भी सुखिया को नींद न आई, उसका मन अपनी चिर-संगिनी चक्की की ओर गया। पर कहीं हरी की नींद न खुल जाय, इस डर से वह चक्की की तरफ भी नहीं गई।

सुखिया के मकान के पीछे जिन सेठजी की हवेली है, वह इधर छः महीने से, जब से विधुर हुए हैं, रात-बिरात कम से कम एक-दो बार सुखिया की नीची छत की ओर अवश्य ही झाँक लेते हैं। सुखिया के मकान की देख-रेख के लिए सेठजी यह कष्ट नहीं उठाते, बल्कि खुद सुखिया की ही देखरेख के लिए वह ऐसा करते हैं।

सुखिया को अपनी फिक्र में नींद नहीं और सेठ जी को अपनी में। निशा नित्य से अधिक निस्तब्ध है, शव की तरह शान्त है।

सेठ जी देख रहे हैं सुखिया को नींद नहीं आ रही है, और सोच रहे हैं शायद उन्हीं की वजह से सुखिया की आँखों में आज नींद नहीं।

"तुम्हारे लड़के को पढ़ाने का सब जिम्मा मैं लेता हूँ।" सुखिया सुन कर भय से सिहर उठी। उसके माथे पर पसीना आ गया। लेकिन उसके कानों में हरी जैसे कह रहा है—"अम्मा टेक्स्ट बुक!"—वह काँपने लगी और अपनी चारपाई से उठ लाज में गड़ नीचे बैठ गई।

"तुम्हारे लड़के की पढ़ाई का सब खरचा मैं उठाऊँगा। उसे दो सौ, चार सौ का नौकर करा दूँगा", कहते हुए, हाथ की चक्की का आटा खाने वाले सेठ जी अपनी तोंद को सँभाले, सुखिया की छत पर उतर रहे हैं।

"अरे यह क्या पागलपन है! चुपकी रहो नहीं तो दोनों की बदनामी है!!"

रात शव की तरह निस्तब्ध और शान्त है।

अगले दिन सुबह होते सुखिया की चक्की ने प्रभाती गाकर लोगों को नहीं जगाया। उसकी चिर-संगिनी चक्की आज मौत का मातम मनाने वाले मन से अधिक निस्तब्ध है।...और उसका क्षुब्ध हृदय?

हरी ने सुबह उठते ही कहा—"अम्मा, टेक्स्ट बुक?"

टेक्स्ट बुक के लिए हरी को रुपए मिल गए और जब वह चाँदी की चमक से आँखें चमका कर खुशी-खुशी स्कूल चला गया, मौत का मातम मनाने वाली सुखिया ठीक उसी जगह जा लेटी जहाँ हरी के बाप ने शरीर छोड़ा था और वह बेचारी मुँह ढाँक सुबक-सुबक कर रोने लगी।

दो पैसे

दो पैसे की कितनी सी बिसात ! लेकिन बात दो पैसे की है, और एक दूसरे अर्थ में लाख रुपये की। कहने का मतलब है, यह दो पैसे की बात बिलकुल साधारण सी हो सो बात नहीं।

हमारे शहर के प्रसिद्ध वकील और सूबे की कौंसिल के मेम्बर बाबू शारदाप्रसाद सिंह के जीवन में इस दो पैसे की बात का कितना महत्व है यह बात मुझे उन्हीं की जबानी मालूम हुई। हजार चाहा कि उनकी बात पर विश्वास करूँ लेकिन फिर भी साधारणतः सहज में विश्वास नहीं होता। मैं जानता हूँ कि एक सफल वकील होते हुए भी, लखपति होते हुए भी, और जिस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते भावुकता का लेश मात्र मन में नहीं रहता, उस अवस्था को प्राप्त होने के बाद भी बाबू शारदाप्रसादसिंह हमेशा झूठ नहीं बोलते।

जैसा कि नाम से ही जाहिर होगा, बाबू साहब बिहारी हैं। झूठ बोलते वक्त उनकी सहज स्वाभाविक और इधर कुछ वर्षों से स्थूल होती हुई आकृति आज भी कुछ बदल सी जाती है, जैसे मुट्ठी भर मीठे बादामों के बाद एक जरा से कड़ुए बादाम के दाँतों तले आजाने से वे मुँह बिगाड़ लेते हों। इस दो पैसे की बात में झूठ का लेश नहीं, तर्क मुझे समझाता है। लेकिन मन तो तर्क की सिफारिश के बाद भी बहुत सी बातों को सहज में ग्रहण नहीं कर लेता।

दो पैसे

इस कहानी को सुनाते हुए बाबू शारदाप्रसाद सिंह का मुख एक अद्‌भुत सारल्य और कैशोर की भावुकता से अनायास दीप्त हो उठता है। यह उनकी किशोरावस्था की कहानी है, जो एक फाँस की तरह उनके मन में कहीं अटकी हुई बार-बार, रह-रह कर खटक जाती है।

बात १९१९ की है, जब शाम के रंगीन बादलों की तरह, यूरोपीय महायुद्ध के बाद कुछ समय के लिए हिंदुस्तान के जनसाधारण की आर्थिक दशा सहसा देखने में भली मालूम होने लगी थी और जब ब्रिटिश सरकार की तरफ से हिंदुस्तान पर लादी जाने वाली अन्यायपूर्ण विनिमय की दर ने रात के अंधकार की तरह हमारे हिंदुस्तान के किसानों की उस क्षणिक चमक-दमक को छीन नहीं लिया था। बाजार भाव बढ़े-चढ़े थे और मजदूरी की दर भी कोई वैसी बुरी नहीं थी। किसानों के हाथों में रुपया उछलता था और साधारण मजदूरों की आँखों में भी रुपए की चमक दिखलाई पड़ती थी, यद्यपि चढ़े हुए बाजार भाव के कारण रोज की खरीदारी के बाद वे वैसे ही गरीब हो जाते थे जैसे कि कल थे या आज हैं। उन दिनों हमारे चरितनायक बाबू शारदाप्रसाद सिंह शारदाबाबू कहलाते थे और बी० ए० की दूसरी साल के विद्यार्थी थे। शारदाबाबू के पिता गाँव के खाते-पीते किसान थे, नौकरों से काश्त कराते थे, घर में पैसा ही पैसा दिखलाई देता था। बहुत से दो दिन के दौलतमंदों की तरह उनका भी विश्वास था कि अँग्रेज बहादुर के राज में आप सोना उछालते हुए बेखटके कहीं भी जा सकते हैं। वे जानते थे कि वह सोना जिसे वे उछालते फिरते हैं उस बाजीगर का सोना है जो एक हाथ से दर्शक को उसे देता है और न जाने कैसे, दूसरे हाथ से छीन लेता है। शारदाबाबू के पिता के हृदय में अनन्य राजभक्ति थी जो जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन की विजय के समाचारों को सुनकर इधर और भी दृढ़ हो गई थी। इसलिए वह अपने होनहार

लड़के को अँग्रेज़ बहादुर की व्यवस्था में किसी ऊँचे पद पर आसीन देखना चाहते थे। उधर पिता जी की यह लालसा प्रतिदिन अधिक बलवती हो रही थी और इधर हमारे शारदाबाबू खटाखट क्लास पास करते छलाँग भरते हुए बी० ए० की दूसरी साल तक आ पहुँचे।

गाँव के गिर्दनवाह में शारदाबाबू का शोर था। डिप्टी होंगे, पुलीस के ऊँचे अफ़सर होंगे, न जाने क्या होंगे! सभी कुछ हो सकते हैं; अपनी काबिलियत के बल पर क्या नहीं हासिल कर सकते! इसी तरह की चर्चा दिन-रात शारदाबाबू के बारे में गाँववालों के बीच चलती रहती। जब वे छुट्टियों में घर आते तो गाँव के लोग प्रतिदिन, पास के गाँवों के लोग दूसरे तीसरे दिन और जरा और दूर के गाँवों के लोग शारदाबाबू के गाँव में हर शुक्रवार को लगने वाली पैंठ के दिन उन्हें देखने आया करते। पूरब की ओर, उनके गाँव से ३० मील की दूरी पर मलकपुर के जमींदार भीषमसिंह के कानों में भी शारदाबाबू के बारे में इस चर्चा की भनक पड़ी। उनकी एक मात्र पुत्री अब विवाह योग्य हो चुकी थी, इसलिए वे सुयोग्य वर की तलाश में थे ही कि पछाँह से आते-जाते कई रिश्तेदारों और मोतबिर मित्रों ने शारदाबाबू की खबर दी। छुट्टियाँ खत्म होते-होते शारदाबाबू फिर कॉलिज में पहुँच चुके थे।

रिश्ते की बातचीत चली। शारदाबाबू के भावी श्वसुर अपने भावी दामाद को देखने के लिए आने वाले थे। उन्हें लाने के लिए शारदा बाबू को स्टेशन पहुँचना था, क्योंकि भीषमसिंहजी बड़े आदमी थे, शहर में उनका कोई और नातेदार या मित्र न था और शारदाबाबू का होस्टल स्टेशन से काफी दूर था—शारदाबाबू नहीं चाहते थे कि उनके भावी श्वसुर कहीं अन्यत्र भटक जायँ।

हमारे शारदाबाबू हमेशा से ही कुछ छोटे क़द के हैं। लेकिन मन

उनका यही चाहता है कि लोग उन्हें कमजकम मझोले कद का आदमी तो कहें। शायद श्वसुर साहब पर भी वह यही साबित करना चाहते थे, वर्ना ऐसी क्या बात थी कि उस जरा ऊँची एड़ी के जूते पर पालिश होते होते वे इतने अधीर हो उठते, प्रतीक्षा में इतने बौखला जाते और बेचारे मोची पर इस बुरी तरह बिगड़ जाते।

बोर्डिंग हाउस के उस मोची में एक खास बात थी, जिसमें उसकी तत्कालीन लोकप्रियता का रहस्य छिपा है। जब सब कहीं चार पैसे में पालिश होती, वह मजदूरी के दो ही पैसे लेता। जूतों को खूब चमकाता था, पालिश भी असली लगाता था; कुछ लोग ताज्जुब करते थे कि क्या मोची को इस मजदूरी में परता भी पड़ जाता होगा? यह सच है कि अपने कुटुंब के भरण-पोषण के लिए उसे इस मजदूरी से परियाप्त पैसा न मिलता था, लेकिन इस कमी को वह दूसरी ओर से पूरी कर लेता। किसे विश्वास होगा कि उस मरघिन्ने मोची ने साइकिल वाले के साझे में भी एक व्यवसाय कर रक्खा था, जिसमें खुद उसका उत्तरदायित्व कमरों के बाहर पड़ी हुई, बाबू लोगों की साइकिलों में जूते की छोटी-छोटी कीलों को चुभो कर रोज पंक्चर करना था। साइकिल वाले को ढेर से पंक्चर जोड़ने को मिलते, और हमारे मरघिन्ने मोची को भी अपना हिस्सा मिल जाता।

शारदाबाबू भारी लेकिन बेचैन कदमों से कमरे का फर्श नाप रहे थे। स्टेशन जाने का वक्त अनकरीब था और मोची साला (उनके शब्दों में) उनका जरा ऊँची एड़ीवाला वह जूता पालिश करके जैसे आज लाने वाला ही नहीं था। एक मिनिट बीता, दो मिनिट बीते, शीसे के डले ढुलकते गए—मोची का कहीं निशान नहीं था। वाहरे मरघिन्ने मोची! मारे लातों के साले का कचूमर निकाल दूँगा! पैसे के नाम कभी एक कानी कौड़ी नहीं दूँगा! शारदाबाबू के दिल में इसी तरह के भाव बवंडर

की तरह उमड़ रहे थे। उधर ताँगे वाला आवाज पर आवाज लगा रहा था। अंतिम चेतावनी भी दे चुका था कि अब ट्रेन मिले न मिले, ज़िम्मेदारी उसकी नहीं। गुस्से के मारे शारदाबाबू का खून खौल रहा था। अगर वह मरघिन्ना मोची इतना घिनौना न होता तो शारदाबाबू उसका कचूमर निकालने के अलावा उसका खून भी पी डालने का संकल्प कर डालते। शारदा बाबू करीब-करीब निराश हो चुके थे। उनका छोटा कद कुछ और भी सिमट गया, जब उन्होंने घिसी हुई एड़ी के अपने पुराने जूते की ओर लाचार निगाह डाली।

लेकिन वह आया धीरे-धीरे रेंगता हुआ जैसे पाँवों में दम नहीं। शारदाबाबू के काले बादलों से ढके हुए भाग्याकाश में सूरज चमका। 'अबे ओ मोची के बच्चे, पाँवों में जान नहीं! जनवासे की चाल चलता है, समझ रख दोनों टाँगे तोड़ दूँगा!'—शारदा बाबू भभक पड़े। मरघिन्ने मोची ने दौड़ लगाई। पहुँचा, और बाबू जी के कदमों में बैठकर पैरों के सामने जूते रख दिए अपने सिर से बहुत दूर नहीं। सफेद फुल्ली से ⅔ हिस्सा दबी हुई अपनी आँखों की पुतलियों में जरा-सी चमक लाते हुए ऊपर देखा! बाबूजी को खुश करने के लिए भीषण पायरिया से सड़ते हुए मैले दाँतो और मसूड़ो के रखवाले दोनों मोटे-मोटे ओठों पर मुसकराहट दौड़ने की कोशिश की, जो बेतरतीब बढ़ी हुई दाढ़ी और मूछों के मोटे मैल बालों से, बन में छिपे हुए खरगोश की तरह कभी बाहर आती और कभी लुक छिप जाती। दो पैसे की मजदूरी करनेवाला वह मरघिन्ना न जानता था कि बाबू जी की प्रतीक्षा का महत्व क्या है, रहस्य क्या है, गहराई क्या है! भिड़भिड़ाती चुंधी आँखों से उसने फिर ऊपर देखा, मुसकराने की कोशिश की और कहा, 'बाबू तनि देरी होय गई रही। माफ करें, सरकार!' शारदाबाबू ने जूते पहने और मोची को

धक्का दे कर गिराते हुए बिजली या उल्का की तरह निकालते हुए चले गए। मोची सँभला, खड़ा हुआ और पीछे मुड़कर देखने लगा। शारदा बाबू उसकी आँखों से ओझल हो चुके थे। हजरत मूसा ने जिस तरह उस नूर के जलवे को न समझा था, हमारा मरघिन्ना मोची भी कुछ न समझ पाया शारदाबाबू के तपाक और तेवर के रहस्य को। वह बिहारी बाबू को दूसरे ही रूप में देखता आया था। लेकिन शायद जिंदगी भर सैकड़ों बाबुओं के ऐसे ही सौ रंग देखते-देखते उसके हृदय में स्थितप्रज्ञ का सा भाव आ गया था, जिसने उसे इस अवस्था में भी विचलित न होने दिया। जीवनमुक्त की तरह वह उठा, और अपने रोज के कामों में लग गया। बाबू लोगों के कमरों में पालिश के लिए जूते बटोरने और बाहर खड़ी हुई साइकिल में, नजर बचाकर, कीलें चुभाने के लिए वह फिर निकल पड़ा। वह इस छोटी सी घटना के कारण दार्शनिक बनकर नियमित कार्य को रोक देता तो काम कैसे चलता ? बकरी की माँ खैर मनाए भी कब तक ? और जूते गाँठने वाले को भी लात खाने से ग्लानि क्यों हो ?

अगले महीने वह मोची कितनी बार शारदाबाबू के सामने पैसों के लिए गिड़गिड़ाता हुआ आया और झिड़कियाँ खाता हुआ चला गया, लेकिन शारदाबाबू ने पैसे न दिए, न दिए। मलकपुर के भावी जमींदार को दृढ़ता की आदत डालनी थी और मरघिन्ने मोची से ही उस शुभ संकल्प का श्रीगणेश हुआ।

लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। घटना छोटी-सी थी लेकिन शारदाबाबू उसे अपने चित्त से न हटा सके। दो पैसे की बात कोई भारी बात थोड़े ही थी, लेकिन न जाने क्यों वह शारदाबाबू के दिल में कहीं भार बन कर बैठ गई थी—वह उसे भुला न सके। गर्मी की छुट्टियों और विवाह शादियों के खत्म होने के बाद जब शारदाबाबू फिर कालिज को

लौटे, बोर्डिङ्ग हाउस में कई बार उस मरघिन्ने मोची की तलाश कराई। उस छोटे से कीड़े को, जिसे वे पैरों से रौंद चुके थे और जिसे प्रतिशोध में तुरत डंक मारने की आदत न थी, न शक्ति थी, उसे वे क्यों खोजना चाहते थे? उसके लिए यह कैसी उत्सुकता! लेकिन इन बातों का उत्तर शारदाबाबू आज तक नहीं दे सके।

जब से शारदाबाबू ने दूसरे नए मोची की जबानी सुना है कि वह मरघिन्ना मोची चोरी के इलजाम में दो महीने की जेल काटने के बाद निकला और फिर बीस पच्चीस दिन के भीतर हैजे की बीमारी से मर-खप गया, तब से शारदाबाबू की बेचैनी कुछ और भी बढ़ गई है।

वैसे तो दो पैसे की बिसात ही कितनी सी है, मैं पहले ही कह चुका हूँ। लेकिन शारदाबाबू ¾ हिस्से सफेद फुल्ली से ढकी हुई पुतलियो वाली, उस मरघिन्ने मोची की निरीह आँखों को, उनकी करुण दृष्टि को और पायरिया के पीव को पी-पी कर मोटे होने वाले ओठों की लाचार मुसकान को हजार कोशिशें करने पर भी न भुला सकते थे। वे इस बात को दिल से न निकाल सके कि वे मानवता के उस दलित कीट के प्रति दो पैसे के देनदार हैं। उन दो पैसे से वह कीड़ा समाज और संसार से न प्रतिष्ठा पा सकता था, न धनवान हो सकता था, न उसकी गिनी हुई साँसें ही हिसाब से ज्यादा बढ़ सकती थीं। वह खुद मरने से बहुत पहले ही इसी लोक में (यहाँ नहीं तो परलोक में तो निश्चय ही) इस दो पैसे की बात को भूल चुका होगा। शायद वह अब उस लोक में शारदाबाबू को पहचान भी न सके, शिकायत करना तो दूर की बात है। फिर शारदाबाबू इस छोटी-सी बात, इस दो पैसे की बात को न जाने क्यों भुला नहीं पाते। धन-धान्य, स्त्री-संतान, मान-प्रतिष्ठा और जीवन में सफलता से सब ओर से घिरे रहने पर भी; भावुकता की उम्र से बहुत दूर चालीस के उस पार

पहुँच जाने पर भी, शारदा बाबू उस जरा सी बात को भूल नहीं पाते। जीवन में लेना-देना बना ही रहता है। शारदाबाबू ने हजारों के वारे न्यारे किए हैं। जीवन से पाया भी खूब है और दूसरी ओर सार्वजनिक कामों में या व्यक्तिगत रूप से दान-पुण्य और कारज-व्यवहार में जी खोल कर खर्च भी किया है, फिर भी दो पैसे की जरा सी बात को शारदाबाबू न जाने क्यों भुला नहीं सकते। उन्होंने मुझसे डरते-डरते (डर इस बात का कि कहीं मैं उनकी हँसी न उड़ाऊँ और उन्हें कोरा भावुक या बना हुआ आदमी न समझूँ) इस जरा सी बात को कितने ही ढंग से बार बार कह कर सुनाया है, जैसे वह छोटी सी कहानी ही उनके जीवन की कहानी है। मैंने उन्हें कई बार समझाया कि समुंदर में एक मुट्ठी धूल डाल देने से न समुद्र ही सूख जायगा और न जमीन ही डूब सकती है। फिर बात भी दो पैसे की! और यह भी कोई बेचैनी का बायस है? हममें से करीब-करीब सभी लोग छोटी-मोटी बातों में बहुत से अन्याय करते हैं। रेलवे, बिजली कंपनी, हस्पताल और ऐसी ही बहुत सी संस्थाओं से अपने अधिकार के बाहर दो-चार पैसे की, रुपए-दो रुपए की जीत ही कर लेते हैं, और फिर ऐसी बातों का खयाल भी नहीं करते। कौन ऐसा है जिसने बहुत सी बातों में, रुपए-पैसे के मामलों में, कोताही या गैरइंसाफी न की हो और जो दुनिया के सामने किसी न किसी रूप में देनदार नहीं? आदमी आदमी है, देवता नहीं। रोज हजारों बातें होती हैं, उनमें से अगर सब छोटी-छोटी बातों को याद रक्खा जाय तो स्वयम् जीवन की विशदता ही संकीर्ण हो जाय। लेकिन शारदाबाबू को इन दलीलों से शांति नहीं मिलती। वे भी कहते हैं, क्या मैं झूठ, फरेब, गैरइंसाफी, बेईमानी या कोताही से बरी हूँ? मुझे इन बातों की किसी कदर आदत भी पड़ गई है, जैसे मिट्टी-धूल में, धूप-ताप में और जाड़े गरमी में रहने की शरीर को आदत पड़ जाती है। लेकिन, भाई, दो पैसे की उस देनदारी को मैं हजार भुलाने पर भी

नहीं भूल सकता। कितने ही मोचियों को, मजदूरों को और साइकिल वालों को मैंने चार की जगह छै पैसे दे दिए हैं, इस खयाल से कि उसके हिस्से के दो पैसे शायद अब निपट जाएँ, लेकिन वह कर्ज चुकाए नहीं चुकता। मैं पढ़ा-लिखा, नए खयालात का आदमी हूँ लेकिन मैंने आते-जाते जब कभी गंगा-जमना या कोई दूसरी नदी पार की है, यात्रियों से निगाह बचा कर अनेक बार दो पैसे जल में फेंक दिए हैं। मैं जानता हूँ कि मेरा वह साहूकार मरघिन्ना मोची मर चुका है। जानता हूँ कि मरने से पहले वह मुझे भूल चुका था, इस बात को भी भूल चुका था और परलोक में भी वह मुझे निश्चय न पहचान सकेगा। मुझे विश्वास है वह और साहूकारों की तरह सूदखोर नही है। बात भी छोटी सी है, सभी जीवन मे ऐसी घटनाएँ आती हैं। जिन्दगी की रगड़ से हम सब ऐसे घिस मिड़ जाते हैं कि दिल पर के अच्छे घावों के निशान भी नहीं रह जाते, फिर यह तो उनके सामने कुछ भी नहीं है। पर फिर भी मुझे लगता है मैं जिसका देनदार हूँ, उसका प्रेत मेरे पैरो मे बैठा हुआ है। ड्रै हिस्से सफेद फुल्ली से ढकी हुई पुतलियो वाली आँखों से, उन मोटे-मोटे भद्दे कुरूप ओठों से, उस बेतरतीब बढ़ी हुई बेहूदा दाढ़ी के एक-एक मोटे-काले बाल से वह मुझे देखता है। क्या मैं उसे ठुकरा नहीं सकता? ठुकराता भी हूँ, ठुकराया भी है। लेकिन, भाई, सच तो यह है कि चाहे मैं मारे लातों के उसका कचूमर निकाल दूँ, लेकिन इस बाजी में जीता वह है और हारा हूँ मैं। वह चोर था, चोरी के इलज़ाम में जेल गया, बेईमानी से भी पैसा कमाता था, बदमाश था, लेकिन उसमें का वह बेबस, असहाय मजदूर जिसकी निर्बलता ही उसका बल थी, उसे मैं नहीं भुला सकता। यह सोचने से ही तो सतोष नहीं हो जाता कि उस चोर को दो पैसे न देने से दुनिया का अहित नहीं हो गया। शायद उन दो पैसों से वह भाँग ही खरीद कर पीता या अफीम खाता या इक्के को दो पैसे देकर वह ताड़ीखाने की ही ओर

जाता। सोच सकता हूँ कि अच्छा ही हुआ मैंने उसे अप्रत्यक्ष रूप से कुछ देर के लिए इन चीजों से बचाया। लेकिन, भाई, मेरा मन नहीं मानता। सब कुछ सोचने पर भी मेरी देनदारी कम नहीं हो जाती।

जिस ट्रेन से हम सफ़र कर रहे हैं—मैं और शारदाबाबू, वह बेतहाशा दौड़ती हुई, नीचे लेटी हुई वसुंधरा को मजबूत इस्पाती खोपड़ियो मे भरती और छोड़ती हुई, द्रुतगति से दिल्ली की ओर बढ़ रही है, जहाँ मुझे किसी प्रकाशक से मिलने के लिए और शारदा बाबू को किसी खास राजकाज के सबंध मे पहुँचना है। ट्रेन कुछ धीमी हुई। लो, जमना का पुल भी आ गया। सिंदूर से पुते हुए, पुल के विशाल खंभे आँखो के सामने आने और ओझल होने लगे, जैसे सहस्त्रों प्रेत सहसा एक साथ नाच उठे हों। शारदाबाबू उद्विग्न हुए, उनके मन में भी न जाने कैसी प्रेत-छायाएँ नाच उठी होंगी। एक अजीब भाव से उन्होंने डब्बे में चारों ओर देखा जैसे वह मझधार में डूबते हुये किसी बजरे में बैठे अपने साथियों को गिन रहे हो। लेकिन वास्तव में उन्हें देखने का होश थोड़े ही था, इसीसे तो वह मेरी दृष्टि को देखते हुए भी न देख सके थे। शारदा बाबू ने जेब से बटुआ निकाला और उसमें से दो पैसे, किसी दूसरी ओर देखते हुए और मौका पाते ही चुपके से अपना हाथ बाहर निकाल कर, नदी में फेंक दिए। गर्मी में सूखी हुई जमना की धारा कृश थी, शायद उन दो पैसों की भूखी भी न थी। शारदा बाबू ने फिर नदी की ओर नहीं देखा। कौन जाने पैसे नदी में गिरे या रेती में?

शीराजी

शीराजी ने अपने बलिष्ट शरीर को झोला देकर अपने को सीधा किया और फिर मुड़कर उस ओर देखा। बड़े ताज्जुब से उसने जवाब दिया—ओ हो! तुम हो मसीता काका?

मसीता काका का कपोला मुँह आधा खुला और उनके ओठों पर सकोच की एक हल्की-सी मुस्कराहट थी। किसने सोचा था वह और शीराजी यों बन्दरगाह के मुसाफिरखाने में बरसों बाद मिलेंगे। लम्बा-तगड़ा शीराजी, यह वही शीराजी है जो उनके गाँव में छुटपन से जवानी तक पला था, वही आवारा शीराजी, वही शराबी शीराजी, राजा साहब की ईरानी रखैल का लड़का वही शीराजी—ईरान की भूमि में पैदा हुआ यह गोरा-चिट्टा शीराजी मसीता काका के गाँव में बिखरी धूल-मिट्टी, कीच-कादों और धूप-ताप से बिलकुल भी तो मैला नहीं हुआ; बल्कि हम्माल की इस फटी-पुरानी नीली पोशाक ने उसके गोरे रंग को और भी निखार दिया है। हाँ, गालों पर भी वही लाली है।

शीराजी ने फिर अपने अगल-बगल देखा। पुकारा—झुनकू शेख, तुम भी हो!···और ··और शेर खा, तुम कहाँ छिपे खड़े थे?

बाड़े से जैसे भेड़-बकरियाँ निकलती हैं, हज करके लौटे हुए यात्री भी जहाज के मुसाफिरखाने से निकल पड़े। कहीं किसी की खुली गठरी से—उनके अव्यवस्थित जीवन की तरह—चीज-बस्त बिखरी पड़ी थीं, जैसे पुराने-

पुराने पिंजड़ों से अधमरे पंछी ढुलक पड़े हों। कहीं किसी के पिचके हुए—उस गरीब के गालों की ही तरह—टीन के बक्स से भानमती के पिटारे की झाँकी मिल रही थी। कहीं अपने बिखरे सामान की तरह खोये-खोये से मुसाफिर अस्त व्यस्त चीज-बस्त की पांतों में फँस खड़े थे।

हम्मालों की पाँति से वह भी एक हम्माल हाजियों के एक छोटे झुंड की ओर लपका था। नहीं, किसी विशेष उत्सुकता से नहीं, यों ही जैसे रोज की आदत से। आँधी के बाद जैसे आम तरकारी-बाजार में आते हैं या जैसे बरसात की हुमस के साथ मच्छर या जैसे चैत के महीने में मक्खियाँ, हर जहाज के साथ वैसे ही ये डेक के मुसाफिर आते थे। शीराजी को उन्हें यों आते-जाते देखने की आदत-सी पड़ गई थी।

शीराजी किसी मुसाफिर की पेटी उठाने के खयाल से झुका ही था कि उसकी दाहिनी बगल से किसी ने उसे नाम लेकर पुकारा। ना, वह उसके किसी साथी का स्वर नहीं था—वह चुस्त-दुरुस्त करारा स्वर नहीं, जो वह अपने साथी हम्मालों से सुनने का आदी था। आवाज थी पोपले मुँह वाले मसीता काका की।

पास-पड़ोस के गाँवों के और दूसरे हाजी लोग उसी दिन रेलगाड़ी पर सवार हो जाना चाहते थे, लेकिन मसीता काका, भुनकू शेख और शेर खाँ को शीराजी ने दो-एक दिन के लिए रोक लिया। वह तीनों भी अपने साथी हाजियों के साथ जाने के लिए बहुत लालायित नहीं थे; कारण, इन तीनों को छोड़कर बाकी सब ही खाते-पीते असासादार आदमी थे, परदेस में वह दुर्भांत करते न चूके सो अब देश में तो वह इन्हीं तीनों से गाड़ी में सामान रखायेंगे, स्टेशनों पर खाना-पानी मँगवायेंगे और न जाने और कैसी-कैसी गुलामी करवायें! और शीराजी? वह कैसा ही आवारा क्यों न हो, है तो एक गरीब मेहनतकश, दया-धर्म तो उसके मन में है। शीराजी से उनकी

उन्सियत की एक और भी वजह थी :—

शीराजी का वतन, ईरान भी अब उनकी आँखों देखा है। ईरान! वह भी एक अजीब मुल्क है। लोग वहाँ सचमुच मलूक होते हैं, खासकर औरतें। और वह औरतें होती भी कैसी हँसमुख और मनचली हैं। तीनों सोच रहे थे, सरे-आम उनका हाथ पकड़ कर वह मसखरी ईरानी औरतें न जाने क्या-क्या कहती थीं :—

'आगा, खुशामदीद!
अज कुजामी आयद?
आगा, शुमा हिन्दी अस्त?
आगा, शुमा खानम मी खाई!
आगा, शुमा खानम नमी खाई?'

और इन तीनों सीधे-सादे देहातियों के बुद्धूपन पर वह खिलखिला कर हँसती थीं। तब इनके मन में भी खुशी के फव्वारे उछलने लगे थे। पोपले मुंह वाले मसीता काका के दिल में भी तो आइस-क्रीम गलने लगी थी।

इस शीराजी की माँ भी तो उन्हीं जैसी रही होगी। उसके बारे में यह कहावत कि गले से उतरती पान की पीक दीख पड़ती थी, जरूर-जरूर सच रही होगी। मसीता काका की आँखों ने शीराजी की माँ को कभी देखा नहीं था, लेकिन आज वह मन-ही-मन खुश थे आँखों में उसकी मनोहर मूर्त्ति ढाल कर।

अवध के मशहूर शहर लखनऊ में चिड़ियों और दूसरे प्राणियों का सुन्दर रनवास, बनारसी बाग जैसा है, वैसा ही था अवध के मशहूर ताल्लुकदार, राजा का रनिवास। कहते हैं वहाँ हिन्दुस्तान के सब सूबों की ही सुन्दरियाँ नहीं, वरन् विदेश के देशों से भी कई सुन्दर स्त्रियाँ उन्होंने रक्खी थीं। हिन्दुस्तानी स्त्रियों में विशेष प्रिय उन्हें थीं —सुदूर सरहदी सूबे

की छुरहरी लाँबी नाजनी जिसकी भाषा जीवनपर्यन्त न राजा साहब ही समझ पाये, न जो राजा साहब की ही भाषा को सीख सकी (पर प्रेम की भाषा दोनों समझते थे, समझते रहे और कभी न भूले); वह कर्नाटकी जिसकी अटपटी बोली में वही चटपटापन था जो दक्षिण की भूमि में उगने वाले मिरच-मसालों में होता है; कुमायूँ गौरांगना नायक कन्या जो अपने लिए हमेशा पुलिङ्ग वाचक शब्दों से कभी मोह ही न छोड़ सकी थी; बुन्देलखण्ड की वह कुमारी जिसकी माँस-पेशियाँ उस देश की चट्टानों की तरह दृढ़ और वहाँ की रातों की तरह ही कोमल थीं, बुन्देलखण्ड की तारों भरी रात के समान उसका साँवला सलोनापन आँखों को चमत्कृत कर देता था; मालवा की कोमलाङ्गी मालती जिसके श्वासों में मादक सौरभ था, अहिफेन के लाल फूलों को चूमकर बहने वाली वासन्ती समीर का और जिसकी भावनाओं को भरा-पूरा बनाया था वहाँ के पावस ने और जिसकी मन्थर-गति, मधुरवाणी और इंगित में साकार हो उठा था सम्पूर्ण मालवा प्रान्त, इतिहास जिसकी मादक सुन्दरता का साक्षी है। स्थूलकाय अधेड़ पंजाबिन जिससे उनका परिचय जीवन के उषाकाल में ही हो चुका था, वह आज भी रनिवास गुँजाती रहती। रसगुल्ले-से मीठे और गोल-गोल बोल-बोलने वाली बनारसी बंगालिन भी उनके प्रारम्भिक पराक्रमों द्वारा ही जीती हुई मणि थी—इस मौनिका नाम की गणिका के प्रति राजासाहब आज भी श्रद्धालु थे। किन्तु सर्वोपरि स्थान इन अवकाश-प्राप्त नायिकाओं में सदैव से बड़े बाप की बेटी, कुल-लक्ष्मी और गृह-स्वामिनी रानी साहिबा ब्रजकुँवर को ही मिलता रहा है। अधेड़ पंजाबिन तथा बनारस की मौनिका बाई और स्वयं रानी साहिबा भी उस श्रेणी में थीं, जिस श्रेणी में उन स्त्रियों की गिनती होती जिनके साथ राजा साहब प्रीति की रीति भर निबाहते। इस श्रेणी को वह श्रेय के अन्तर्गत रखते थे। प्रेम के अन्तर्गत आतीं देश-विदेश की वह सुन्दरियाँ जिनमें से कुछ का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

देशी सुन्दरियों में एंग्लो-इंडियन वारांगना मिसेस कटलेट का उल्लेख करते हुए हम हिचके थे; कारण, कि यद्यपि मिसेस कटलेट का जन्म इसी भारत-भूमि में हुआ था किन्तु उन्हें भारतीय कहलाने से सख्त एतराज था। यह भी सच है कि राजकुमार की अँगरेज गवर्नेस मिस स्मिथ मिसेस कटलेट को हिकारत की नजर से देखतीं और अपनी बिरादरी में न लेतीं; लेकिन फिर भी मिसेस कटलेट भारत-भूमि को अपनी जन्म-भूमि कह कर कभी गौरवान्वित न करतीं। हमारे लिए मिसेस कटलेट उस इन्द्र-धनुषी पुल के समान चिरस्मरणीय रहेंगी जो भारत-भूमि को स्वर्गादपि विलायत-भूमि से जोड़ता था। इस पार की भारतीय सुन्दरियों का उल्लेख हम कर चुके हैं। उस पार स्वर्ग की एक अप्सरा मिस स्मिथ का भी आप परिचय प्राप्त कर ही चुके हैं। उनके अतिरिक्त रनिवासों में प्रमुख, शस्य-श्यामला-गोरी पिंडलियों वाली मदालसा यहूदी-कन्या थी जो इटैलियन गायिका सिनौरिटा बौटिचैली से तो सदैव प्यार-मोहब्बत का बर्ताव करती और रस से अधिक पैसे की लोभिन फ्रांसीसी मैदेम के बाल नोचने पर हर घड़ी उतारू रहती। मोटी-ताजी जर्मन वीरांगना का जिक्र हम नहीं करेंगे, क्योंकि वह एक वर्ष भी रनिवास में जीवित न रह सकी। उसके कमरे में तुर्की-महिला ने बसेरा किया था, तुर्की-महिला की बगल में पेवड़ी से पीली और मोम से चिकनी त्वचावाली चीनी तरुणी रहती और उसके पास रनिवास का वह हिस्सा था जहाँ सोने के तार-सी लचकीली देहवाली वह ईरानी युवती थी, जिसे राजा साहब अपनी पिछली विदेश-यात्रा के स्मृति-चिह्न के रूप में ले आये थे। उसे देखकर कौन कहता कि वह दो बच्चों की माँ है। निरी सोलह बरस की-सी दुबली-पतली इस हँसमुख काञ्चना ने सभी की आँखें चौंधिया दीं। काली-काली बड़ी पुतलियाँ जैसे दिन की उज्ज्वल ज्योति का पान कर यौवन की मस्ती में हँसती रहतीं, पुतलियों से भी काले केश, घने लहराते काले केश, आम की एक डाल से दूसरी डाल

पर फुदकते हुए मदमत्त मोर के बर्हभार-से लगते, और राजा साहब के हाथ और उनकी आँखें दिन-दिन भर, रात-रात भर उन केशों को दुलराने में ही लगे रहते। राजा साहिब को यह ईरानी सुन्दरी सबसे अधिक प्रिय थी; किन्तु वह रनिवास में सर्वप्रिय नहीं थी। रनिवास की सुन्दरियाँ उसके अत्यधिक दुबलेपन की ओर कटाक्ष करते हुए उसे खपंच कहा करतीं। राजा साहब उसकी तरफदारी लेते और जवाब देते कि हाँ, वह खपच-सी लचकीली है जरूर; लेकिन वह खपंच है दूज के चाँद की।

राजा साहब के बारे में अवध के लोगों ने बहुत कुछ सुना था, मसीता काका ने और भुनकू शेख ने तो बहुत कुछ देखा भी था। शीराजी हम्माल अपने दोनों बलिष्ठ कांधों पर सामान लादे आगे-आगे चल रहा था। शेर खाँ उसी का हमउम्र, शीराजी से सटकर बत्ते मिलाता साथ-साथ जा रहा था और दोनों बूढ़े पीछे-पीछे लुढ़कते चल रहे थे। अपने जीवन में उन्होंने जो कुछ देखा था वह ख्वाब बनकर आँखों में धुन्ध छा रहा था और उन्होंने जो सुना था वह सब एक अनजाना अफसाना बनकर हाँफते हुए उन दोनों बूढ़ों के अध-खुले ओठों से आह बनकर निकल जाता।

बिजली की रफ्तार से दौड़ती हुई मोटरों, चिंघाड़-चिघाड़कर भागने और भागते-भागते रुक जानेवाली ट्रामों, ऊपर बिजली के तारों की छूम-छनननन, बाजार की चहल-पहल, मर्दों के साथ कन्धा भिड़ाकर चलने-वाली अँग्रेज और हिन्दुस्तानी मेमें और सूट-बूटधारी काले-गोरे साहब—इन सबने मिलकर एक ऐसा जोर का रेला मारा कि मसीता काका और भुनकू शेख के पिछले ख्वाब और अफसाने न जाने कहाँ गुम हो गये।

दोनों ने देखा हृष्ट-पुष्ट उस अलमस्त शीराजी को जो बैल के-से अपने मजबूत कन्धों पर सामान लादे साबुत-कदमी से बढ़ा चला जा रहा था।

शीराजी के मुकाबल, साथ चलनेवाले शेरखाँ के पाँव कैसे खोखले खोखले पड़ रहे थे। बड़ी सड़क से हटकर अब वह एक गरीब गली में घुस पड़े थे, जहाँ न मोटरों की आवाज थी न ट्रामों की और पत्थर की ऊबड़-खाबड़ सड़क पर अब शीराजी के भारी बूटों से ठप-ठप-की आवाज निकलने लगी थी। शीराजी के पाँव जरा भी तो नहीं हिचकिचाते। क्या यह वही लड़का है जो शराब मे धुत नालियों मे पड़ा रहता था? पोपले मसीता काका को याद आई बीस बरस पहले की वह बात जब कुँवर साहब की नई हवेली की नीव खुद रही थी और शीराजी नीव की उन खाइयों में दिन-दिनभर नशे में डूबा पड़ा रहता। पन्द्रह साल के इस बिगड़े हुए लड़के के प्रति किसी के भी मन में तो सहानुभूति नही थी। लड़के उसे ढेलो से मारते, और नीव से खुदी मिट्टी उस पर डालते— शराब के नशे में चूर शीराजी को लड़के नीव में जिन्दा ही दफना देते अगर उन्हें कुँवर साहब की इस नाराजी का डर न होता कि खुदी हुई नीव को फिर से अटा देने पर वह शरारती लड़को की खाल ही खिंचवा लेंगे।

फिर एक दिन कुँवर साहब ने शीराजी की इस कदर पिटाई कराई कि प्रहारों की धू-धू आवाज सुनकर पास के हाते में बँधी हुई भैंस भी रस्सा तुड़ाकर और खूँटा उखाड़कर भाग निकली, कुत्ते भौंकने लगे, लेकिन शीराजी उस सबको सह गया—इतना जरूर हुआ कि उसका नशा काफूर हो चुका था। उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से फिर कुँवर साहब को एक बार घूरकर देखा था, उनके मोटे-मोटे लाल कान की ओर सहसा उसका हाथ बढ़ गया था और दूसरे हाथ का थप्पड़ पड़ा था कुँवर साहब की थूथड़ी पर और उसके बाद शीराजी नौ-दो-ग्यारह हो गया था।

हम सचमुच नहीं जानते इन पन्द्रह बीस वर्षों में शीराजी ने क्या किया और उस पर कैसी बीती। इतना जरूर जानते हैं कि वह लुक-छिपकर बीच-बीच में अवध के उस ताल्लुके की झाँकी लेता रहा है, शायद इसी वजह से मसीता काका भुलक्कड़ देहाती ने भी शीराजी को एक आन में पहचान लिया था। राजा साहब तब तक मर चुके थे। रनिवास—चिड़िया-घर का वह बड़ा पींजड़ा—खुलवा दिया गया था और उसकी सब चिड़ियाँ तितर-बितर हो चुकी थीं।

वह पाँचों शहर की गन्दी अँतड़ियों जैसी गलियों से गुजरते जाते थे और शीराजी हम्माम के ठिकाने तक पहुँचते जा रहे थे। सामने ताड़ी और देशी शराब की एक छोटी-सी दूकान थी, जिसकी ओर शीराजी ने बस मुड़कर एक बार देख-भर लिया और बनिये की दूकान पर सामान उतार कर रख दिया। दूकान के ऊपर जो छोटा-सा एक अट्टा है वहीं शीराजी के महमानों ने डेरा डाला। यह शीराजी का निवास-स्थान नहीं, वह तो और दूसरे हम्मालों के साथ कहीं भी पड़ रहता है—सड़क के फुटपाथ पर, जहाज के मुसाफिर-खाने में या वहाँ जहाँ उसके सींग समाये।

शीराजी ने हफ्ता-भर मेहमानों की खूब ही खातिर-तवाजह की, खिलाया-पिलाया और खूब ही घुमाया। तीनों देहातियों का शहर में मन भी खूब रम गया। रात को वह मजदूरों की गाती-बजाती टोलियों में जा मिलते और दिन में सैर को निकल जाते या मजदूरों के लड़ाई-झगड़ों और फोश हँसी-ठट्ठों को देख-सुनकर मन बहला लेते।

शायद अभी वह यहाँ से चल देने का नाम भी न लेते अगर मसीता काका अपने अधमुखे पोपले मुँह से सहसा एक दिन यों न कह उठते—'झुनकू दादा, ठडक...!' झुनकू शेख के घबराकर पूछने पर मसीता काका ने अपनी खोजबीन का नतीजा कह सुनाया कि हाजियों को प्राणों से प्यारे,

आबेजमजम से पाक किये हुए थानों में से दो थान गुम हो गये हैं। तब तो तीनों को थानों की चोरी का और हफ्ते-भर की उस भरी-पूरी खातिर-दारी का रहस्य समझते देर न लगी। थोड़ी ही देर में झुनकू शेख और शेर खाँ को यह भी पता चल गया कि तीन में से जो एक थान बच गया है उस पोपले मुँह के मसीता काका ने हथिया रक्खा है।

बचा हुआ थान किसकी मिल्कियत है इसका फैसला करने के लिए कशमकश शुरू हुई। तीन अभिन्न साथियों में हाथा-पाई की नौबत आ गई। तीनों ही चाहते थे कि मरने के बाद कफन बने आबेजमजम में पाक किया हुआ वह एक बचाखुचा थान, वह थान जिसमें हाजी का सम्पूर्ण संचित पुण्य बसा होता है—आकबत की सब आपदाओं से बचाने के लिए वह थान ही तो छत्र बनेगा। जान भले ही जाये पर आबेजमजम में डूबा हुआ वह थान हाथ से न निकल जाये।

सहसा इन तीनों की चीख पुकार बाहर के गुल-गपाड़े में डूब गई। जहाँ बोतलें तड़क रही हों, शीशे की आलमारियाँ फट रही हों, जहाँ शरा-बियों का शोरो-गुल हो, दसियों के सर फट रहे हों—जहाँ दो शराबियों के आपसी झगड़े ने हिन्दू-मुसलिम दंगे का भयंकर रूप धारण कर लिया हो, वहाँ इन तीन देहातियों की तू-तू मैं-मैं को कौन सुनता? नक्कारखाने में तूती की आवाज बंद हो गई। तीनों ने अड्डे के दरवाजे से मुँह निकालकर देखा सड़क पर खून की फाग खेली जा रही है और भड़की हुई आग उनके नजदीक, बहुत नजदीक आ रही है। नीचे किसी दंगाई ने दूकान में बैठे हुए मोटे-झोटे लालाजी का टखना पकड़कर बाहर खींच ही तो लिया। पीठ के बल धरती पर पड़े लालाजी के पेट पर वह मचक-मचक कर कूदने लगा जैसे वह कोशिश कर रहा हो कि वर्षों से लाला जी उससे जो नफा ले रहे हैं वह उसे यहीं की यहीं उगलवा ले। सामने

शराब की दूकान के सब अंजर-पंजर ढीले हो चुके थे। शराबकी बोतलों में दमकनेवाला पियक्कड़ों का रंगीन स्वप्न टूट चुका था, कीचड़ बन चुका था। गरीब पारसी दुकानदार माथे पर बड़े भारी गूमड़े को सहला रहा था और पास खड़ा नौजवान साकी, लतीफ अपने जबड़ों को पकड़े नीचे बैठा था, सर की चोट का उसे खयाल भी न था जिससे खून की एक पतली धार निकल कर सूख चुकी थी।

बनिये की दूकान लुट गई और आग लगा दी गई सब बचे-खुचे माल में शीराजी हड़बड़ाता हुआ आ निकला। 'मसीता काका, झुनकू शेख उतरो, उतरो भाई। वरना तीतर से भुन जाओगे'—वह चिल्लाने लगा और लगा जीने की किवाड़ें पीटने। न जाने कब तक यह तमाशा होता रहता अगर नीचे का धुँआ ऊपर तीनों देहातियों को अपना विषैला सन्देश न सुनाने लगता। मय अपने साजो-सामान के वे दिहाती निकले और उजड़ी हुई गलियों में मौत के व्यापारियों की तरह शीराजी के पीछे-पीछे फेरी लगाने लगे।

मुसलमानी बस्ती के नुक्कड़ पर पहुँचते ही मराठी हिन्दुओं के एक दल से उनकी मुड़भेड़ हो गई। भेड़-से बेवकूफ इन तीन दहकानियों की बचत का जब कोई और दूसरा रास्ता शीराजी को न सूझा तो उन्हें गली में ठेलकर वह खुद दंगाइयों के दल से आ भिड़ा, ताकि वह इन्हें रोके रहे और उसके तीनों मेहमान मुसलमानी बस्ती में पहुँच जायें।

घर-फूँक तमाशा देखनेवाली पुलीस को आखिर जब तवज्जह इधर देनी ही पड़ी तो फिर दंगे के शांत होते, आग बुझते देर न लगी।

मुसलमानी बस्ती के नुक्कड़ पर नाली मे पड़ी शीराजी की भी लाश मिली। मसीता काका, झुनकू शेख और शेर खाँ ने शीराजी को पहचान लिया। कहते हैं आबेजमजम में पाक, उस बचे हुए एक थान ने गुनहगार

आवारा शिराजी के सब गुनाहों को ढँक लिया। मसीता काका ने अपने हिस्से का संचित पुण्य शीराजी को दिया, पोपले मुँह से उस आवारे के गुनाहों की माफी के लिए इबादत की और अपनी चुन्धी-चुन्धी धुंधली आँखों से मरे हुए को अंजलि दी।



सौगात

अररर...धम्म ! एक मुसाफिर धड़ाम से गिरा। गाड़ी के बाहर नहीं, भीतर डिब्बे में ही – पास की सीटपर बैठे हुए किसी अनजान मुसाफिर की गोदी में।

'आदमी हो या दीवट ?' किसी ने बड़े तपाक से कहा। गुनहगार मुसाफिर बेचारा झेंपा हुआ, बुझे हुए चिराग की दीवट की तरह, खामोश था। जवाब न दे सका कि साहब हाँ, दीवट हूँ। मेरे दिल में भी एक चिराग जलता है। आज से चार बरस पहले मैंने उस चिराग को सँजोया था और उससे पाँच सौ कोस दूर रहते हुए भी मैंने उसे बड़े चाव से उजेला रखा है। पर वह बेचारा यह सब कहता भी किससे और कहने का प्रयोजन भी क्या था ?

जिसकी गोद में वह गिरा था, वह खामोश था। सिर्फ आँखें तरेर कर देखता रहा इस अजनबी को, इस ऊजबिनोनक से आदमी को।

'भलेमानस गाड़ी को तो रुकने देते ! आखिर इतनी इस्तराबी भी क्या ! क्या आप मलूकजादे को पल भर पहले देखे बिना उस पद्मिनी को कल न पड़ती ? जानते नहीं कि रुकने से पहले गाड़ी झटका देती है ?'

'जाने तो तब, जब जिन्दगी में कभी झटके झेले हों। कोई गावदी है, शायद पहले-पहल रेल में चढ़ा है। क्यों जी, रहते कहाँ हो ?'

'कलकत्ते में !'—गुनहगार मुसाफिर ने जवाब दिया। और पूछनेवाला सन्न-से रह गया, शायद कलकत्ते का नाम सुनकर।

गाडी उस छोटे स्टेशन पर ऐसे रुकी, जैसे छोटी औकात के किसी आदमी क घर जाते-जाते बड़ लोग ठिठक भर जात है , लोग बाहर निकले और बाहर से भीतर आए, और इस भगदड़ में किसी को और कुछ पूछने-सुनने की सुध नहीं रही।

गाड़ी चली गई और स्टेशन सीढ़ियों पर खड़ा वह अकेला मुसाफिर पाँच-छः इक्के-ताँगेवालों की मुँहजोरी का सामना कर रहा था—बातों से नहीं, अपनी चुप से। एक चुप सौ को हराती है सही; पर वह ताँगेवाला, जिसका नाम छिद्दा है, शैतान से भी हार माननेवाला नहीं। बोला—'जो चाहे दे देना, बड़े बाबू !' और सामान की ओर लपका। मुसाफिर की सिट्टी गुम। उसकी अंगुलियाँ, इटैलियन की काली जैकेट में टँके सफेद बटनों से खेलने लगीं और कभी किस्टीनुमा पट्ठा लगी काली टोपी-से, जो सिर का तेल सोख-सोखकर अपना रंग बदल चुकी थी। सामान की ओर उसने देखा और जब कुछ करते-धरते न बना, तो सिर्फ खीस निपोर दी—पान से रँगे अपने दाँत दिखलाते हुए, जिनमें से दो में सोने के चौंप ठुके थे।

छिद्दा शायद जान गया कि मुसाफिर कलकत्ते आया है, मसखरी करने लगा—'अच्छा बाबू , कुछ न देना, मेरी बेगम के लिए एक कलकतिया सलीपर ही दे देना !' छिद्दा के विनोद पर दूसरे ताँगेवाले भी ठहाका मारकर हँस पड़े—'हाँ, हाँ, बहू का भाई बना ले। तुझे भी मिल जायगा एक कलकतिया धोती जोड़ा और लल्ला के लिए खिलौना !'

इससे पहले कि मुसाफिर आपत्ति करता या किराया-भाड़ा ठहराता, उद्दंड छिद्दा के बलिष्ट हाथों ने सारा का सारा सामान उठाकर ताँगे के पाँवदानपर रख दिया। वह काली पेटी काफी भारी थी, लेकिन छिद्दा के लिए नहीं। दो छोटी-छोटी टीन के डिब्बे, पुरानी रंगीन दरी में लिपटा हुआ बिस्तर का पुलंदा और पकी पीली फलियों से लदा वह केले का चखा। देर

थी अब सिर्फ मुसाफिर के बैठने भर की।

छिद्दा ने पूछा—'कहाँ जाओगे, बाबू ?' मन में सोचा, किसी गँवई-गाँव के मेहमान होंगे; तभी तो जमाई-जैसे साज-बाज से आए हैं। सासूपर भी तो रोब डालना है ! मुसाफिर ने जवाब दिया—'साधोपुर !' और छिद्दा की बाँछें खेल गई। खीस निपोरते हुए कहा—'ओह, वह तो मेरी भी ससुराल है। तब तो हम साढ़ू हुए। आप भी वहाँ ब्याहे हैं, बड़े बाबू ?" मुसाफिर ने कोई जवाब नहीं दिया और न उस ढीठ ताँगेवाले को चुप रहने की ही ताकीद की। ताँगेवालों में लोगों का स्वभाव और उनकी औकात जानने की एक असाधारण क्षमता होती है और इसी के बूते छिद्दा बड़े इतमीनान के साथ ढिठाई करता जा रहा था।

छिद्दा के यों ढिठाई कर सकने का एक और भी कारण था। दूसरे ताँगेवालों के मुकाबले उसकी औकात भी बड़ी है। वह खटीक है सही; लेकिन सैयदपुर मौजे के असासादार लोगों में उसकी गिनती है। वह दिन तो गए ही समझिए, जब खलीखाँ फाख्ता उड़ाते या गाँव के ब्राह्मण और ठाकुर कुजातवालों को अच्छा मकान न बनाने देते या उनकी विवाहिता बहुओं को चाँदी के (सोने की कौन कहे !) गहने न पहनने देते। दो साल हुए छिद्दा ने पक्का मकान बना लिया है और उसकी स्त्री चाँदी-सोने के गहने भी पहनती है। गाँव के पंडित और ठाकुर छिद्दा से रुपया-धेली उधार भी ले जाते हैं और इस तरह 'कमीन' के सामने हाथ पसारते हैं। लोगों का कहना है कि जब से छिद्दा का बाप मरा है, उसका भाग्य चेता है। बड़ी-बूढ़ी कहती हैं, भाग्य चेता है, जबसे बहू घर में आई है, जो गौन को ही पक्के मकान में उतरी थी और अब जिसकी गोद में साल भर का लल्ला खेलता है।

मुसाफिर इस सब से अनभिज्ञ है। वह सोच रहा है, चार बरस पहले

की उन मीठी बातों को, जिनके सहारे वह काले कोसों कलकत्ते के नरक में मर-मर कर जिया है। हाँ, कलकत्ता गरीबों के लिए तो नरक ही है। अमीरों के लिए वह भले ही स्वर्ग हो। कुलीगीरी, पाटकी मिल मे मजदूरी और फिर चौकीदारी...क्या नही किया उसने? नहीं कुछ किया, तो चोरी नहीं की, जुआ नहीं खेला, शराब नही पी! लेकिन क्यों? कलकत्ता कोई तपोवन तो है नही, जहाँ पवित्र जीवन की दीक्षा लेने वह गया हो! धर्म कमाने न सही, पर धन कमाने तो वह जरूर ही गया था वहाँ। पेट काटकर, कौड़ी-कौड़ी जोड़कर, उसने कुछ पूँजी भी जमा कर ली है, इस आशा में कि वह जसोदा से ब्याह करेगा। वह हिरनी-सी नटखट, चंचल, हँसमुख जसोदा! अरहर के खेत में तारे-भरे आसमान के नीचे जिसे वह वचन दे चुका है, जिससे वचन ले चुका है और जिसके प्रेम-पाश में वह बँध चुका है—छोटे चाचा की बड़ी सरहज की भतीजी, वही जसोदा!

अँगुलियों की पोरोंपर उसने हिसाब लगाया—पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह और फिर—उन्नीस! हाँ, वह अब उन्नीस ही बरस की तो होगी—चार बरस पहले पन्द्रह ही की तो छोड़ गया था वह?

वहाँ कलकत्ते में साथी कहते—'पागल है तू, जो उसकी आस लगाए बैठा है! अरे मिट्टी के महादेव, क्या तेरे लिए वह पार्वती अभी तक कुँवारी ही बैठी होगी? उसे किसी के घर मढ़ न दिया होगा उसके बापने!' वह जवाब देता—माँ-बाप कोई है नहीं, बस चाचा है। वह भी लोभी, उसे भतीजी को ब्याहने की भला क्या पड़ी?" जवाब मिलता—'तब तो और भी जल्दी बला टाली होगी उसने। ले-देकर सात फेरे डाल दिए होगें किसी के साथ। कोई गाँठ का पूरा मिल ही गया होगा। मै कहता हूँ, तू पागल है, पूरा पागल...!'

जैसे-तैसे वह अपने-आपको बहुत समझा-फुसलाकर रखता, पर कभी-कभी आशंका से वह काँप उठता। लेकिन हमेशा वह यही अन्तिम उत्तर देता—'मेरी जसोदा ऐसी नहीं है। कौल हार चुकी है!' और फिर जब कभी बात छिड़ती और कोई साथी सुझाता कि किसी से दो अक्षर लिखा कर एक चिट्ठी ही डालकर पूछ देख, तो वह मन मसोसकर कहता—'वह भी तो पढ़ी-लिखी नहीं है, दादा! चिट्ठी चाचा-चाची के हाथ लगी, तो और उसकी फजीहत होगी।'

लोग कहते—'ऐसी सगाई की कौन परतीत? लुगाई की जात है, पागल, लुगाई की जात—कहीं-न-कहीं बैठेगी ही! पानी कहीं गड्ढे में न भरेगा, तो क्या तेरे लिए रुका रहेगा!

'भगवान् साक्षी हैं, भैया! हमारे कौल-करार हो चुके हैं।'—वह जवाब देता। और साथी कहते—'सुना नहीं है बौड़म, एक कन्या सहस्र वर! वह तो ईश्वर ने मिठाई ही ऐसी बनाई है कि जिसे देखकर हजारों के मुँह में पानी भर आए।' पर उसने कभी इन दलीलों पर विश्वास नहीं किया। वह कहता—हम एक-दूसरे के हो चुके हैं, दादा!' और अगर साथी हँसते, तो वह चुप हो जाता!

आज अपनी जसोदा के लिए वह सौगात लाया है—साड़ी-जंपर, पेटी-कोट, शीशा-कंघी, तेल-फुलेल, सलीपर, बुन्दे, नलकी .और न जाने क्या क्या! यह उसकी चोटी-एड़ी के पसीने की कमाई है, पेट काटकर जमा की हुई कमाई, उस मधु क्षण के लिए जमा की हुई कमाई, जब वह जसोदा के चरणों पर रलमल-झलमल करती हुई इन सब चीजों को सजा कर रख देगा और जब उसकी जसोदा एक विस्मित दृष्टि इन सब पर डालेगी और दूसरी विमुग्ध, सम्मोहन दृष्टि स्वयं उसपर—चार बरस के बिछुड़े अपने प्रेमी पर—और एक पग आगे बढ़ अपने प्रेमी की छाती पर

सिर धर कर जब वह आहिस्ता से कहेगी—'मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारी। आने में इतनी देर क्यों की, निर्मोही ! मैं इन चीजों पर थोड़े ही रीझती, मैं तो रीझी थी तुम पर...!' वह मन-ही-मन प्रेम-पुलक में भरी अपनी जसोदा का चित्र बनाता, जो शरमाकर जरा मुस्कुराएगी और शरीर से, मन से, उसकी हो जायगी।

'चल चल रे नौजवान !'—छिद्दा ने घोड़े को रास से थपथपाते हुए आवाज दी। पके खेतों पर से आते हुए साध्य समीर को सूँघ और अपने चौड़े-चौड़े बड़े नथुनों से साँस फेंकते हुए, उस जोमदार घोड़े ने चाल तेज की और साँझ के सूनेपन में घोड़े की टापों की टप् टप् दूर-दूर तक गूजने लगी।

सड़क की दाईं ओर दूर किसी बाग की करवट में सूरज डूब रहा था। पत्तों से छन-छनकर आती हुई उसकी किरणें सुरंग घोड़े की दमकती हुई पीठ को और भी चमका रही थीं, जैसे किसी ने घोड़े पर सुनहले कलाबत्तू का साज डाल दिया हो। साँझ की किरणों ने जीन और पट्टों में लगे पीतल के बकसुओं को सोने की आब दे दी थी और घोड़े के गले में पड़ी हुई माला तो जैसे सोने में ही मढ़ दी गई थी। उस जोमदार जानवर की पुष्ट लम्बी गरदन पर लोट-पोट अयाल शोशे-सी दमकती हुई देही को सहलाते हुए नाचते और सिर पर की कलगी अपनी रंगीनी का परिचय देती हुई हवा से बातें कर रही थी।

छिद्दा जितना ही रास खींचता, घोड़ा उतना ही आगे बढ़ता जाता था। छिद्दा उसे शाबाशी देता और घोड़ा और जोर से लपकता। लेकिन घोड़े की चाल, सड़क के दोनों ओर उथली खाइयों में भरे लाल-नीले पानी, गुलाब की पंखुड़ियों-से बिखरे बादलों या उनके नीचे सिमट कर खड़े हुए मौन-मुग्ध संध्या के गुमटीदार वृक्षों में क्या और कैसा सौन्दर्य

था—वह सब हमारे मुसाफिर की आँखें न देख सकीं। कहीं अकेला विधुर सारस एक पाँव पर खड़ा साँझ की दुनियाँ को उदासी से देखता, तो कहीं सारसों की जोड़ियाँ दिशाओं को गुँजाती हुई उड़ती जातीं। कहीं नादान टिटिहरी टिटिहाती और कहीं लाल बादल के नीचे गोरे-गोरे बगुले कलाबाजी करते—जैसे आसमान से गुलदावदी के फूल झरते हों। मुसाफिर अपने भावों की धारा में डूबता-उतराता चला जा रहा था कि सामने साधोपुर दिखलाई पड़ा, जिसके पीछे सूर्य गिर चुका था और अगल-बगल धरती आसमान की ओर लाली उगल रही थी।

छिद्दा ने साधोपुर से निगाह हटाए बिना ही पूछा—'किसके यहाँ जाओगे? साधोपुर तो यह आ गया।'

'रमला चौधरी के घर।'—मुसाफिर ने जवाब दिया।

'लेकिन रमला चौधरी तो परसाल गुजर गए।' छिद्दाने कहा।

'तो उनकी बहू होंगी, चाची जनको।'

'वह मैके में रहती हैं, अपनी भावज के पास।'

'और यशोदा, उनकी भतीजी?,—मुसाफिर ने पूछा।

'क्या कुछ रिश्तेदारी है उससे?

'हाँ, मैं जशोदा के बड़े फूफा के भाई का लड़का हूँ।' उसने कुछ झेंपते हुए जवाब दिया।

'तुम्हारा नाम ज्वालाराम है?'—छिद्दा ने पीछे मुड़कर पूछा।

'हाँ', मुसाफिर के मुँह से निकला और उत्तर सुनकर जिद्दा ने बिना कुछ कहे-सुने ही घोड़े को उलटा मोड़ दिया। इससे पहले कि किंकर्त्तव्य-विमूढ़ ज्वाला कुछ कैफियत तलब करे, छिद्दा ने घोड़े की चौक छोड़ दिया और धूल के बादल उड़ाता हुआ वह लौट पड़ा।

'पर हम जा कहाँ रहे हैं?'

'जहाँ जसोदा है।'

'जसोदा कहाँ ?'

'सैयदपुर में।'

'सैयदपुर मे ? कहाँ ?'

'उसकी नातेदारी है।'—इतना कहकर छिद्दा ने बाएँ हाथ को ताँगा मोड दिया, जिस रास्ते की ओर देख कर घोड़ा आते वक्त अपने चौड़े नथुनों से फुफकारा था, जहाँ उसने गरदन मोड़ी थी और जहाँ उसके चारों पाँव क्षण-भर को ठिठके-से थे।

जब तक ताँगा सैयदपुर पहुँच कर गाँव के बाहर की ओर एक नौहरे के पास रुक नहीं गया, पता नहीं ज्वाला के मन में क्या-क्या भाव आए और गए; किन विचारों के बवंडर उठे और क्या तर्क-कुतर्क उसके अन्तर को कुतरते रहे ? ताँगा रुका। छिद्दा ने ज्वाला का सामान उतार कर चबूतरे पर रख दिया। किसी को आवाज देकर एक पलङ्ग मँगवाया, दरी बिछाई और हुक्का-पानी की बात पूछी।

घोड़े को ठंडा करने के लिए छिद्दा उसे घुमा रहा था और चबूतरे पर बैठे हुए बेचारे ज्वाला का माथा ज्यादा से ज्यादा गरम होता जा रहा था। जो तरह-तरह के सवाल उसके मन में उठ रहे थे, वह उनका जवाब किससे पूछे, कैसे पूछे ? पेट के ऊपर कौड़ी के पास जो जी मतलानेवाला मन्दा-मन्दा दरद उठ रहा था, वह उसे किस पर प्रकट करे ? गले में जो काँच का गिलास खंड-खंड हो गया है, वह उसे कहाँ उगले ?...और जसोदा ? आखिर वह है कहाँ ? उसकी कनपटी के ऊपर की नसें फूल आईं और दिल की धड़कन भीतर पसलियों पर मूसल चलाने लगी। उमस से घुटती हुई गरमी की यह साँझ अपने आखिरी दम ज्वाला का गला घोटने लगी। ज्वाला ने कुरते का ऊपरवाला बटन खोला, गला ढीला किया और फिर

इटैलियन की जैकेट के भी बटन खोल दिए। साँस घुटती गई, वह पसीने में नहाने लगा और होश गुम।

घड़ी भर बाद ज्वाला ने आँख खोली। पाँयते खड़े नीम के पौदे पर हरीकेन लालटेन टँगी थी और सिरहाने बैठी एक स्त्री पंखा झल रही थी, जिसकी गोदी में करीब एक बरस का बच्चा दुद्धी के लिए हाथापाई कर रहा था। ज्वाला को आँख खोलते देख वह बोली—ज्वाला भइया, अब कैसी तबियत है तुम्हारी? तुम भला कलकत्ता शहर के रहनेवाले, ऐसी गरमी, धूर-मिट्टी क्यों सही जाती?'

पास कहीं अँधेरे में बैठे हुए छिद्दा ने कहा—'जसोदा, तुम्हारे भइया बड़े नाजुक हैं!' ज्वाला को परिस्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हुआ। जसोदा ने कहीं दूर खड़े हुए अपने देवर से कहलवाया कि इनका सामान तो बैठक में रखवा दो। छिद्दा ने तम्बाकू का धुंआ छोड़ते हुए कहा—'भैया हो तो ऐसा कि सहजकर सौ-सौ सौगात लाए बहन के लिए, और बहन हो तो ऐसी कि सामान को आँखों से ओझल न होने दे।'

'क्या सौगात लाए हो मेरे लिए, ज्वाला भइया?'—जसोदा ने पूछा।

'कलकतिया सलीपर'—छिद्दा ने जवाब दिया। और इस बार ज्वाला ने भी खीस निपोर दी, बोला—'जीजा, कोई ताज्जुब है, जो भइया बहन के लिए सौगात लाए? बड़े भाग्य से तो दरसन हुए हैं!' ज्वाला उठ बैठा।

जसोदा ने गद्‌गद् होकर बालक को ज्वाला की गोद में रख दिया—'यह तुम्हारा भानजा है, ज्वाला भइया!' ज्वाला ने अंटी टोटलकर एक रुपया निकाला, खुश्क हँसी हँसते हुए बालक को दुलराया, प्यार किया और उसकी मुट्ठी खोल रुपया हाथ पर रख दिया। थूक सटक गले को तर करने की कोशिश में मठारते हुए वह बालक को हाथों में उछालकर, 'हू-हू

हाउ-हाउ' कहता हुआ उसे खिलाने लगा। बच्चा भी किलकारी भरकर हँस पड़ा।

रात को जब सब सो गए और ज्वाला चबूतरे पर पड़ा-पड़ा साँसें गिन रहा था, उसकी नजर बैठक में होनेवाली खड़बड़ की ओर गई। उसने देखा कि उसके खुले बक्स के सामने बैठी जसोदा एक-एक कर सब सामान को जाँच रही थी। ज्वाला के कानों में भी कुछ भनक-सी पड़ी—'ओहो जी, बड़ा प्यार उमड़ रहा है भइया पर।' कहीं पास बैठे छिद्दा ने जसोदा को छेड़ा।

जसोदा ने कनखियों से देखते हुए जैसे जवाब दिया—'जानते भी हो, पीहर का कुत्ता भी प्यारा होता है!'

'ओहो, इस समय पीहर की याद आ रही है?' और वह शरारत-भरी हँसी से खिलखिलाता हुआ जसोदा के चुटकी काटने लगा।



सुन्दर

गाँव के पछाएँ छोर पर उनकी बाखर है। कहीं लोंद और कहीं गारे के सहारे चिपकी हुई बड़ी-बड़ी कची ईंटों से बना हुआ वह बड़ा पुराना घर है, जहाँ कभी बहुत-से प्राणी रहते थे—गाय, बैल, भैंस बहुत-से पौहे, और पौहों से मिलते-जुलते मनुष्य। एक उसारे में आज भी किसी पुरानी बहली-मझोली के भग्नावशेष मौजूद हैं। किसान-धसान आदमी थे वे लोग, यहाँ इस घर में जिनकी राहिस थी। लेकिन किसी जमाने में यह अच्छा खाता-पीता घर रहा होगा, आज अन्दाज से यही मालूम होता है।

अपने पुराने वैभव को छोड़कर यह उजड़ी हुई बाखर इस दशा को क्यों और कैसे पहुँच गई, हम पूरी तरह से नहीं जानते। जो आम तौर से सुना है वह यह है—पहले इनका बहुत बड़ा मौरूसी खाता था, चार जोड़ी की खेती होती थी, घर का कुआँ था। खेती के आठ बैलों के अलावा एक मझोली की जोट भी थी, जो इर्द-गिर्द के गाँवों में सरनाम थी। ब्याह-शादी में जब दौड़ होती तो यह जोट अच्छे से अच्छे जोमदार बैलों को नहीं जाने देती थी। पाँच-पाँच भेली की शर्त बदी जाती थी, पर पछाईं बाखर की इस जोट से किसी के बैल आगे नहीं निकल सके। गोरी बधिया और मुराडे खैल्ते का स्थान गाँव के इतिहास में आज भी है। फिर धीरे-धीरे लोग मर-खिर गए—कुछ साधारण छोटी बीमारी में, कुछ ताऊन की महामारी में। जो बचे-खुचे, वह काले मूँड़वाली अपनी-अपनी घरवालियों के साथ

एक-एक कोठरी लेकर न्यारे होने लगे। बँधी बुहारी बिखरने लगी। चाही जमीन भी खाकी होने लगी और अन्त में कल्लर-बंजर के सहारे, इस घर के लोगों को लगान पटाना तक मुश्किल हो गया। किसी ने अपने हिस्से की जमीन बटाई-चुटाई पर दे दी तो कोई बीज बखेर कर परमात्मा के आसरे दो दानों की आशा मे बैठ गया। कर्ज से कमर टूटने लगी। दो-एक लाई-पताई के सहारे रहने लगे और एक-दो गाँव छोड़कर शहर चले गये, जहाँ मेहनत-मजूरी से धेली-पावली कमाकर वह अपनी गुजर करते थे। इस तरह से यह गुलजार और खुशहाल बाखर उजड़ गई।

खेमा, उसकी विधवा वृद्धा बहन और लड़की, सुन्दर इस खंडहर के मोह को आज भी नहीं छोड़ सके हैं। एक बूढ़ी भैंस है, और यह रान-जहान टूटा-फूटा मकान है।

सुबह होते ही खेमा बाखर के बाहर, अपने गिरते-पड़ते चबूतरे पर पुरानी फरशी को लेकर आ बैठता है। पीतल की फरशी पर उतना ही मैल है जितना खेमा ब्राह्मण के दाँतो पर—दोनों ही एक से पीले हैं। वृद्धा बहन दूध बिलोती है और सुन्दर आँचल में कभी कपास या कभी नाज लेकर बाजार की ओर निकल जाती है, और तीमन-तरकारी या मिर्च-मसाला या और दूसरा सौदा-सुलुफ लेकर घण्टों बाद लौटती है।

सुन्दर छरहरे बदन की, लम्बे कद और गोरे रंग की लड़की है। उम्र होगी सोलह-सत्रह साल। ज्यादातर गुलाबी लहँगा और पीली ओढ़नी पहनती है। काठी और नक्शा निर्दोष हैं। सचमुच सुन्दर है। उसके अगों की, उसकी आँख-नाक की अलग-अलग तारीफ करना, उनकी खूबसूरती का इस तरह से बखान करना, उसके सौन्दर्य को कम करना और उसकी खूबसूरती में बट्टा लगाना है। उसे देखकर किसे आश्चर्य न होगा कि वह खँडहर की किसी दरार में अनजान फूल की तरह न जाने कहाँ से पैदा हो

गई ! और भी आश्चर्य होता है यह सोचकर कि अपनी सुन्दरता पर न सुन्दर को गर्व था और न गाँव वालों को ही वह चकित करती थी। भरे हुए लम्बे चेहरे वाली, बड़ी-बड़ी आँखों और ऊँची पतली नाक वाली, तसवीर में खिचे-जैसे ओठों और ठोड़ी वाली, छड़ी-सी छरहरे बदन वाली, हँसमुख, वह सुन्दर अपने उभरते और निखरते यौवन को सहज भाव से लिए घर-बाहर, गाँव और जंगल में हिरनी की तरह उछलती फिरती थी, कुदान मारती थी, खल-खल हँसती थी और फिर भी गाँव को आलोकित करने वाली धूप और चाँदनी अप्रतिम नहीं होतीं और न मैली ही होती हैं, जब कि वास्तव में अपनी सब चमक-दमक के साथ भी मैले कपड़ों से ढकी हुई सुन्दर से वह समता नहीं कर सकती।

सुन्दर को पाकर गाँव ने अपने को कभी धन्य नहीं कहा। पास-पड़ोस और आन-मोहल्लों की युवतियाँ और वृद्धाएँ जल-भुन कर, दाँत पीसती हुई कहती थीं—कहाँ से आ गई है रे यह बछेड़ी हमारे गाँव में ! जब देखो तब चटकती-मटकती, सैना-बैना चलाती घर-द्वार गाँव-बाहर उड़ती फिरती है बेसरम ! धरती माता ! न जाने कौन-सी पल्लौ पड़ेगी ?

बिरादरी-आनबिरादरी के लोग तरह-तरह की बातें करते और खेमा पर फबतियाँ कसते थे। खेमा को भी वह भार बन गई थी—क्वारी लड़की को वह गरीब कब तक घर में बिठाएगा ?

गाँव के लौंडे-लपाड़े उसे खेत-खलियान और गली-गलियारे में छेड़ते थे, हाथा-पायी करते थे—जैसे वह गरीब छीना-झपटी और लूट-पाट की ही चीज हो। दो-चार लोग भद्दे इशारे करके, पैसा-धेली के बल पर उससे मनमानी करते और पैशाचिक कृत्य पर हँस-हँस कर आपस में उसकी चर्चा करते थे, जैसे उस गरीब का कोई मूल्य ही नहीं।

परचूनी छिद्दा और चुन्धे नेकी हलवाई का तो जैसे उस पर इजारा

था। फेरीवाले खिच्चू बजाज ने भी उसके साथ नेक काम नहीं किया। इस गाँव ने इस प्रकार अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया था, इस प्रकार सौन्दर्य के प्रति अंजलि देकर सुन्दरता की देवी की उपासना की थी।

और सुन्दर ? वह मिट्टी को फोड़कर बाहर निकले हुए, अपने डंठल पर टिके हुए और काँटों से घिरे हुए फूल की तरह हमेशा हँसती रहती थी कीच काँदों से अछूती रहती थी। पिशाचों की इस बस्ती या उसके अधिवासियों या अपने विघातों के प्रति कटुता के भाव भी तो उसके मन में न आते थे। इसके विपरीत वह अपनी सहज सुषमा के साथ, जैसे स्वभाववश सुन्दर से सुन्दरतर होती जाती थी। ईश्वर जाने ऊसर की इस सौन्दर्य-मन्दाकिनी की क्या परिणति होगी ?

क्वार का महीना शुरू हो रहा है। मक्का की खेती भरी जवानी में खड़ी है। पेड़-पेड़ पर जो छर्रा फूट रहा है, तसवीर में रानियों के मुकुट-सा मालूम होता है। गिल्ली भर गई हैं और भुट्टों से सफेद और कत्थई रँग का सूत फूटकर निकल आया है। ऐसी ही मक्का की खेती को देखकर किसी गुणी ने कहा होगा—हरी थी, मन भरी थी नौ लाख मोती जड़ी थी; राजा जी के बाग में वह हाथ जोड़े खड़ी थी!

ज्वार के फट्टे बाँस बराबर खड़े लहलहाते हैं। बाजरे में बाल निकल आई है, जैसे ज्वार में भुट्टे। जंगल से गाँव को जो बैल छोड़े जाते हैं, मुँछी के लगाकर—वैसे हरे के साथ मिला हुआ भूसा और चरी की कुट्टी खाकर बैल झिके पेट लौटते हैं और खेतों में मुँह डालने की उनकी इच्छा नहीं होती

खेतों में सोंधी सुगन्धवाली सेंदें कहीं लुकी-छिपी पड़ी हैं तो कभी कहीं छोटे-मोटे मतीरे भी दिखलाई पड़ जाते हैं। बन (कपास का बन) में पुरी

आ गई है और बहुत-से अगाए खेतो से तो कपास चुट भी गई है। बीच-बीच में भिंडी की जो आड़ें लगी हैं और तुरई की बेले पड़ी हैं—वे फलती-फूलती जवानी के साथ जैसे अपनी उपयोगिता भी समाप्त कर चुकी हैं। अजगर की तरह काशीफल की बेलें अभी भी ग्रामीण औरतों-सी, बड़े-बड़े पीले फूलो से सजी हुई दिखलाई देती हैं। भूसे से भरी हुई बुजियों पर भी लौकी की बेल चढ़ी हैं।

पोखरे और तालाब लबालब भरे हैं और उनके किनारे खड़ी हुई खेती की परछाई शाम के सुन्दर समय में बहुत ही सुहावनी मालूम होती है। हरे-भरे हारों (खेतों के हल्कों) की शोभा का क्या कहना! खेतो पर हरियल, तोता इत्यादि पक्षी और स्यार और बिजार जैसे पशु टूटते हैं। गला-गला या होरा-होरा करते हुए रखवालो की सुरीली आवाजें गूँजती हैं और गोफन चटखते हैं।

मूँगे के रङ्ग की गिजाई और ताँबे के रङ्ग की भमीरी अब भी पोखरों के सहारे रेंगतीं और उड़ती दिखलाई पड़ती हैं। सन्ध्याकालीन सूर्य की किरणे जब धरती-आसमान को रंगीन छाया से रंग देती हैं, तब जंगल का दृश्य कितना सुदर लगता है, यह कहना कठिन है।

ऐसे ही समय में सुंदर सिर पर हरे का एक गड़ा रक्खे हुए गाँव की ओर मेड़ों पर होती हुई जब तालाब के किनारे आती है, उसकी छाया जल पर बहुत भली मालूम होती है। हलकी-हलकी लहरों पर लहराती हुइ वह छाया, इठलाती हुई आगे बढ़ती है और बिलीन हो जाती है। सुन्दर तब दो ऊँचे-ऊँचे खेतो के बीच से उनकी पतली मेंड़ पर से गुजरती है और आँखों से ओझल हो जाती है। अगर कोई कान लगाकर ध्यान से सुने तो मालूम होगा, जैसे गड़ा सिर से गिर जाता है। मक्का और ज्वार के फट्टे सड़सड़ाते हैं, चूड़ियाँ खनकती हैं, कुछ फुसफुस होती है और फिर

कुछ देर शांत रहती है काफी देर बाद वह मेंड के दूसरे छोर पर दिखलाई देती है।

एक दिन अचानक ही यह विधान बदल गया। सुन्दर ने घर जाने का अपना रास्ता भी बदल दिया है। उसकी गति भी बदल गई है, मुखाकृति भी। हर चीज से विषाद प्रकट होता है। अब उसके बारे में और भी तरह-तरह की चर्चा होने लगी है। गाँव की स्त्रियाँ द्वेष और संतोष के एक विचित्र भाव से उसकी ओर देखती हैं, कुछ लोग उसकी ओर से मुँह फेर लेते हैं और कुछ शैतान लड़के मौका देखकर उसे चिढ़ाते हुए कहते हैं—जीवना जाट ने तलाबवाले खेत में बुलाया है, री सुन्दर!—और फिर उपहास की हँसी हँसकर भाग जाते हैं। सुंदर न किसी की ओर देखती है और न जवाब में मुँह से आवाज ही निकालती है। कभी-कभी खीझकर और दाँत पीसकर मन ही मन कह लेती है—भाड़ में जाय पजारो जीवन।

हरीसिंह जाट का लड़का जीवनसिंह जवान पट्ठा है। सुंदर के जीवन मे इस जीवन जाट का क्या संबंध है, जो यह नही जानते वह सुंदर के विषाद, उसके मन में उदय होते कटुता के भाव, गाँव के स्त्री-पुरुषों मे उसके प्रति उपेक्षा और लड़को के व्यङ्ग-वाणों को समझ नहीं सकते। इस रहस्य के परदे के पीछे छिपी हुई कुछ दुखद घटनाएँ हैं और उनका ज्ञान होते ही तालाब के पासवाले खेतों के पास सुंदर का विलमा जाना, पेड़ो की सरसराहट, गड्डा के गिरने की धमक, हाथापाई और चूड़ियों की खनक—इन सब की पहेली सहज ही में सुलझ जाती है। नादान सुदर के मनोविनोद और जीवन जाट के इस स्वाँग की बात किस तरह दुःखान्त नाटक मे परिणति हुई यह भी जान लेना जरूरी है।

न जाने कितने दिनों यह खेल जारी रहा, लेकिन फसल के कटते-कटते और गेहूँ जौ की बुवाई होते-होते यह बात सारे गाँव में फैल गई। और

यह भी जाहिर हो गया कि बेचारी सुंदर संकट में है। गाँववाले अब उसकी खिल्लियाँ उड़ाते थे, लेकिन सुंदर के मन में दृढ़ विश्वास था कि जिस बलिष्ट शरीर के सहारे गहरी साँसें और सुख की साँसें ली हैं, वह उसकी रक्षा करेगा; जिस जीवन के लिए उसने और सबको छोड़कर अपना तन-मन दिया,वह उसका साथ देगा। किन्तु सुंदर को धोखा हुआ। धोखा? यह कहो कि सुदर ने समझा अब था वरना सुंदर के साथ गाँववालों का सलूक और था क्या!

सुंदर ने (जब अंतिम बार वह जीवन से मिली) उत्सुकता से आँखें उठा, सन्तोष और शरम से चेहरे पर हलकी लाली दौड़ाकर, उसके कुछ और नजदीक सरककर, दबी जबान से अपनी बात बताई थी। किन्तु जीवन? उसकी आकृति कठोर हो गई थी—जैसे अचानक शीत से ठिठुर-कर—और गम्भीर मुद्रा धारणकर उसने कुछ कहा था, जिसका यही मतलब था कि सुदर और जीवन अपना अलग-अलग रास्ता लें।

ऐसी नाजुक हालत में वह अकेली थी, असहाय थी। बूढ़ी फूआ को छोड़कर किसी ने उसके साथ सहानुभूति भी प्रकट नहीं की, और केवल वह अनुभवी वृद्धा ही उसे संकट से उबार सकी थी। सुंदर ने जीवन में पहली बार समझा घृणा क्या है, सहानुभूति क्या है।

स्त्रियों के विद्वेष, पुरुषों की उपेक्षा, नाकारा पिता की अकर्मण्य उदा-सीनता और बूढ़ी फूआ के कड़े शासन के बीच, लांछन से दबी सुदर ने एक साल और पूरा किया। अब वह और भी बदल गई है। देखने से लगता है वह तपे हुए सोने की तरह कुट-पिटकर और भी निखर गई है। या कदाचित् उसने जीवन के स्वाभाविक विकास को खो दिया?

क्वार का दूसरा पाख चल रहा है। बुवाई का समय है। सुंदर के रंग की बरें (पीले ततइये) दीवारों की दरारों, किवाड़ों, दरवाजों में खुम्भियों

स और मोखलो से निकल निकलकर उड़ रही हैं उनके डक वेकार हो चुके हैं और बच्चे यह जानकर धागों म फन्दा डाल कर उन्हें पकड़ रहे हैं, ताकि उनके साथ खेल कर सकें। चबूतरों और चौपालो, खेतो और खलि-यानों में कतकी नहान के मनसूबे बाँधे जा रहे हैं। कोई-कोई तो अब छकड़ों और गाड़ियों और बैलो की जोड़ियों पर भी एक नजर डाल लेते है जिनके सहारे वह सकुटुम्ब कतकी के मेले में जाएँगे। कुछ लोग उधार-पानी की सोच रहे हैं। कुछ अपनी जाजम सुखा रहे हैं, जिसका तम्बू बनाकर वह गगा की रेती में पड़ाव डालेंगे। ऐसे वक्त मे एक दिन शाम को अचानक ही स्वामी जी गाँव में आ पहुँचे।

ये स्वामी जी कौन हैं? गाँव के बहुत से लोग अब उन्हें पहचानेंगे भी नहीं। अब वह वृद्ध हो चले हैं। शरीर बहुत छीज चुका है, आँखो की ज्योति बुझने लगी है और सिर के बाल खिचड़ी हो गये हैं। इन्हें देखकर आज कौन विश्वास करता कि ये ही खेमा के सब से बड़े दामाद पण्डित दुलीचन्द हैं। दस बरस हुए, जब ये साधु होकर निकल गये थे तब से आज तक कभी इधर आये भी तो नहीं। कहा जाता है जब स्त्री मरी, खेत बेदखल हुआ, मवेशी नीलाम हुए और दो बच्चे भी एक-एक कर चल बसे, दुलीचन्द जी भी बैरागी हो गये थे—तभी से लोग इन्हें स्वामी जी कहने लगे थे। लेकिन दस बरस से यह कहाँ रहे, क्या करते रहे, किस तरह से और कैसे रहे—यह कोई नहीं जानता। आज अचानक ही इधर आ निकले हैं। साधु वेश नही है, फटे हाल हैं, मौत की ओर तेजी से बढ़ रहे हैं—यों उम्र पैतालिस के पेटे में ही है।

सुंदर ने अपने प्रेत-ऐसे जीजा जी को देखा, वह डरी। जीजा जी ने परी-सी सुंदर को देखा, वह मुग्ध हो गये।—और फिर उसी साल जाड़े बीतते-बीतते बीसवें बरस में सुंदर की शादी इन स्वामी जी से हो गई।

खेमा ब्राह्मण कृतार्थ हो गये और बूढ़ी फूआ ने भी गले की हँसली और पाँवों के कड़े बेच कर अपने मन की निकाल ली। गाँव की क्वारी लड़कियों को उसके भाग्य पर ईर्ष्या हुई, बड़ी-बूढ़ियों का बोल गुम हो गया, पुरुषों ने कहा—चलो अच्छा हुआ, ठिकाने लग गई। किसी ने भी उसकी मौत पर आँसू नही गिराये। गाँवों का ऐसा ही चलन है।

पूरे छः बरस बाद वह गाँव मे आई। चार-पाँच बच्चे साथ लाई—एक गोद में, एक अँगुली पकड़े, एक ओढ़नी का छोर पकड़ कर रोता-रींगता हुआ तो एक पकड़ने की कोशिश करने पर भी हाथ न आनेवाला। पाचवा बच्चा, ईश्वर ही जाने कहाँ है। है जरूर, और जैसे इस सत्य की स्वीकृत के रूप में सुंदर भी—अब वह सुंदर नहीं रही—अपने विकृत चेहरे को बूदम की तरह ऊपर उठाकर हँस देती है। पास-पड़ौस की औरतें जो उसे घेर कर आँगन मे बैठती हैं, उसकी चाटुकारी करती हैं, उसके सौभाग्य को देखकर पेट में ऐंठन को दबाकर सिहाती हैं। क्वारी लड़कियाँ अप्रतिभ-सी दूर खड़ी आँखे फाड़-फाड़ कर उसे देखती हैं। कहते हैं वह पति की प्यारी है, दूध-पूत से घर भरा-पूरा है—संक्षेप मे यह कि वह लक्ष्मी है।

पेट मटका-सा, हाथ-पाव सरकंडे-से और मुँह बंदर के ऐसा निकल आया है। छातिया बेजान और बेगैरत होकर लटक गई हैं। विश्वास करने को जी नही होता कि यह वही सुंदर है।

अब तो घरों की बड़ी-बूढ़ी, बालक-नन्हा बहू-बेटियों के सामने सुंदर की नजीर पेश करती हैं। बहू-बेटी उसकी झूमर, माथ के बोलना और उसके छड़ो पर रीझती हैं। कहा जाता है वह सुघड़ है, सुतैवन है, घर सँभालती है, पति और बच्चों की देख-रेख रखती है उन्ही के लिए जीती है। वह पतिव्रता है।

सुंदर साकार लक्ष्मी है या सती, सीता, सावित्री है, हम यह सब नहीं

जानत एक बात निश्चित है, सुदर अब सुदर नहीं रही वह अब परिजन प्रिय है। सुनते हैं वह स्वयम् भी अपने सौभाग्य से सन्तुष्ट है। यही तो हमारे दुःख की पाराकाष्ठा है ? तो क्या गाव की सर्वोत्तम सुंदरी, सुदर की यही परिणति है ? क्या उसके लिए धोखा खाने और मिटने के अलावा और कोई चारा है ही नहीं ?

हे, भारत के हृदय, भारत के ग्राम ! सौन्दर्य तुम्हारे भीतर समा सके, क्या इतनी सामर्थ्य आज तुम में है ?



काली बिल्ली

आज उसका जन्म दिन है—माता ने जैसा कभी बताया था, उसके हिसाब से; उस दूसरों को जैसा बता रक्खा था, उस हिसाब मे नही। अब अपने कहे के खिलाफ दोस्तों से कैसे कहे कि आज मैं अपने जीवन के सूने-पन को सहन करने में असमर्थ हूं, मुझे नियति न जाने किस अज्ञात दिशा में लिए जाती है, आज मिल जुलकर उत्सव मनाओ, जिससे मुझे भी मालूम हो कि मेरा कोई है, मैं भाग्य के हाथों मे एक असहाय खिलौने की तरह नही हूँ !

उसने अपने कमरे की खिड़की से बाहर देखा। देखा, शाम की लाली आसमान की नीलिमा में धीरे-धीरे घुल रही है। लो, वह चमकीला सितारा निकल आया। वह कौन-सा तारा है ? क्या शुक्र है ? या बृहस्पति है ? वह कुछ निश्चित न कर सकी पर कुछ भूली-सी इकटक उसी ओर देखती रही—बहुत देर तक देखती रही। सहसा उसे याद आया, जब पन्द्रहवें बरस को पूरा करके सोलहवे में पैर रख रही थी, वह अपने पिता के घर बागीचे में, किसी के साथ बैठी इस सितारे को देखा करती थी। कुछ क्षणों के लिए श्यामा हिल गई, उसके हृदय मे हिलकोरे उठे और शरीर कँपने लगा।

श्रीविलास तब अठारह का था। श्रीविलास को ही उसने सबसे पहले और सबसे अधिक चाहा और प्यार किया था। और अनहोनी बात, उसी को श्यामा ने जिन्दगी मे सबसे बड़ा धोखा दिया !

इनकी कहानी बड़ी दुखद है श्यामा को जैसे एक एक कर सब बातें याद आईं, वह गड़-सी गई—मर-सी गई। चाहा कुछ रो ले, रोकर दम घुटने से अपने को बचाये और गले में जो शीशे के टुकड़े अटक गये हैं, उन्हें निकाल फेंके। पर रोती कैसे? किस मुँह से रोती? जान-बूझकर उसने जो कुछ किया उस अपने किये पर क्या उसे रोने का अधिकार है भी?

घबरा कर अपने मुँह फेरा। देखा, पास वाली छोटी मेज पर उसकी पालतू काली बिल्ली आ बैठी है—न जाने बैठी तो कब से है, उसे देखा अभी है।

इस मखमली काली बिल्ली के काले-काले नरम मुलायम रोएँ खड़े हैं, उसकी चमकीली पीली आँखें कमरे के हलके अन्धकार में गन्धक के दीपकों-सी जल रही हैं। सिमटे हुए अपने झबरे शरीर के नीचे गद्दीदार पाँवों को दबाये बैठी है। शायद यह बिल्ली लीला, श्यामा की स्नेह-दृष्टि की बहुत देर से प्रतीक्षा कर रही है। शायद श्यामा की उदासीनता, बेरुखी या असाधारण उदासी पर उसे आश्चर्य हो रहा है। कौन जाने!

श्यामा बिल्ली की ओर मुड़ी और उसने दाहिने हाथ की लम्बी पतली अँगुलियाँ फैलाकर रोओंभरी मखमली गठरी में डाल दीं। उसने अपनी लीला को चुमकारना चाहा, दुलराना चाहा और अपने इस साथी के साथ कुछ देर मन बहला कर मन के भार को हलका करना चाहा। पर बहुत देर तक वह अपनी जगह पर न टिक सकी। श्यामा उठी और अपने शयन-कक्ष की अलमारी के सामने कुछ देर खोई-सी खड़ी रही, जैसे भूल गई है कि वह वहाँ आई क्यों थी। फिर वहाँ से हटकर मेज के दराज से चाबियों का गुच्छा लाई, अलमारी के ताले की कुञ्जी तलाश की और अलमारी को खोला। इस छोटे-से कारागार से जो गन्ध निकली, उसने जैसे कह दिया कि अलमारी इधर बहुत दिनों से खोली न गई थी।

अलमारी में बहुत-सी चीजें अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। कुछ किताबें हैं, फाइलें हैं, अलबम हैं। और कुछ चाँदी के या निकिल के गुलदस्ते हैं, कसौटी पर परीक्षा किये हुए सोने की लकीरें खिंचे हुए जैसे किसी विचित्र पत्थर के दो पेपरवेट (कागज दबाने के बाट) हैं। इनमें से अधिकांश भेंट में दी हुई चीजें मालूम होती हैं। देखने वाले का पहला कयास यह होगा कि श्यामा आज अपने असली जन्म दिन को बहुत-से झूठे जन्म दिनों के स्मृति चिह्नों को देखकर ही शायद मन बहलाना चाहती है। पर यह अन्दाज गलत है। उसने उन चीजों की ओर देखा भी नहीं। नीचे के दराज को खोलने के बाद उसने एक पुरानी कापी निकाली और उसे खोल कर भीतर से एक बहुत पुराना धुंधला-सा चित्र निकाला। चित्र श्यामा का नहीं श्रीविलास का है। आज भी विलास के सुन्दर अक्षरों में उसके एक कोने पर लिखा हुआ है—अपनी श्यामा को, नीचे लिखा है विलास। विलास श्रीविलास का प्यार का नाम है, घर का नाम है। अपनी श्यामा को—इन शब्दों के नीचे लिखा हुआ 'विलास' लगता है, जैसे कोई प्रेमी याचक अपनी प्रेयसी के सामने घुटने टेक कर बैठा प्रेम की याचना कर रहा हो।

चित्र अब धुँधला हो गया है। और उसके साथ की न जाने कितनी सुखद और अत्यन्त दुःखद स्मृतियाँ धुँधले कुहरे-सी उसे घेरे हैं। श्यामा के माँगने पर ही संकोचशील विलास ने श्यामा को दिया था। अँगरेजी नाटकों और उपन्यासों में जैसा कहा जाता है, उसी ढंग से एक घुटने के बल बैठ कर विलास ने श्यामा को यह भेंट दी थी और फिर मुस्कराकर श्यामा का हाथ चूम लिया था। श्यामा संकोचशील विलास के मधुर विनोद पर मुग्ध होकर हँस दी थी। उसे अब भी अनायास ही हँसी आ गई। श्यामा ने चकित होकर अपने चारों ओर देखा।.........तो खुद वही हँसी थी, श्यामा ने सोचा।

अब और भी ज्यादा गम्भीर होकर वह उस चित्र को एकटक देखती रही और कुछ देर बाद एक साथ फूट-फूटकर रोने लगी। श्यामा की हिचकियाँ बँध गई, खारी आँसू की धाराएँ मुँह में जाने लगीं। आँसू की कुछ बूँदें उसे सटकनी भी पड़ीं। वह सिसक-सिसक कर जैसे कह रही थी—विलास मैं मूर्ख थी। मैं जीवन को और संसार को न समझती थी। देखो, मुझे माफ करना।

आँसू से भरी आँखों से श्यामा चित्र की ओर देखती रही। उसे लगा जैसे विलास की आँखें भी आँसुओं से उमड़ आई हैं। श्यामा ने चित्र रख दिया। वह अपनी काँपती हुई टाँगो पर खड़ी न रह सकी और अपने पलंग पर गिर गई।

सिसकियों और हिचकियों के बीच, आँसुओं को निगली हुई वह कहती जाती थी—विलास, विलास मैंने तुम्हें धोखा देकर संसार में सदा धोखा ही खाया है। मैं खुद भी अपने को धोखा देती रही हूँ। यो धोखे पर ही मै जीती हूँ। मेरी आत्मा का भोजन धोखा है। विलास, तुमने तो कहा था आत्मा का भोजन सत्य है। बताओ, विलास तुम तो कभी झूठ न कहते थे।

ये युगल किशोर प्रेम के बन्धन में बंध गये थे; एक दूसरे के सहारे रहते थे; सदा इसी तरह रहेंगे और एक दूसरे के होकर ही जीवन बिताएँगे, दोनों ने संकल्प किया था। और फिर चञ्चलमति श्यामा ने धन-पद-मद के लोभ से, व्यक्तित्व के विकास के बहाने, विलास के साथ विश्वासघात किया। यही संक्षेप में इन दोनों की कहनी है।

श्यामा को रोते-रोते होश आया तो उसने संतोष की साँस लेकर निश्चय किया कि अच्छा ही है विलास आज संसार में नहीं है जो वह अनेक प्रवंचनाओं और लाञ्छनाओं से कलुषित अपनी श्यामा को देखे। ओह,

वह कितनी भटकी है, उसने कितनी ठोकरें खाई हैं, धन-पद-मद के सम्मुख उसने कितनी बार घुटने टेके हैं और कितनी बार वह इनके द्वारा ठुकराई गई है ! आज उसका जीवन खोखला है, एक धोखा है !

श्यामा तितली-सी फूल-फूल पर घूमी है। कितने ही विशाल भवनों के स्वामियों की याचना पर वह वहाँ की शोभा बढ़ाने गई है। उसके पीछे कितने प्रेमी-याचक घूमते रहे हैं। पर क्या महत्त्व था उन कागज के फूलों का ? क्या महत्त्व था उन बने हुए लोगों के स्नेह-सत्कार का टेनिस के खेल में—'ओह, वंडरफुल, एक्सेलैंट, चार्मिंग, सो लवलीऑफ यू' कहने का ? उन धूर्तों ने कितनी ही बार तो उसे पढ़ी-लिखी वेश्या समझा था ! 'सॉरी, थैंक यू, हाउ डू यू डू, सो वंडरफुल ऑफ यू'—निरर्थक ही थे न ये शब्द ! ओह, कितने झूठे थे वे प्रेमीयाचक, जिन्होंने उससे याचना की थी, उसे अपना सर्वस्व बताया था और बाद को जो उसके बारे में बढ़-बढ़कर बातें करने, उसका उपहास करने तक में चूके न थे ! वह सब कितने घृणित थे जिन्होंने उसे पतन के मार्ग पर बुलाया, रास्ते की फिसलन पर गिराया···उसे क्या से क्या बनाया ··!

श्यामा ने चौंककर अपने हाथ-पाँव को, अपने शरीर को देखा। ओह, घृणित देह ! कैसे-कैसे धूर्तों की बाँहों में बँधी है यह ! किस-किस की अंकशायिनी हुई है ! क्या यह देह वास्तव में कभी विलास ऐसे देवदूत को आकर्षित कर सकी थी ?···क्या सचमुच ? ··पर कैसे ?···यह कैसे सम्भव हुआ ?

श्यामा इस विचार को सहन न कर सकी कि वह विलास के प्रेम के योग्य न थी, कि वह उसकी घृणा के योग्य है ! ·वह घायल हिरणी की तरह कराह उठी—हे ईश्वर !

वह चौंकी। कौन हँस रहा है उस पर ? क्या कहा, उसे ईश्वर

का नाम लेने का भी अधिकार नहीं है ! उसने अपने आपको सँभालने की कोशिश की, तो क्या खुद वही जैसे बेहोशी में अपने आप पर हँस रही थी ?

जब आधे घण्टे की झपकी के बाद वह अँगड़ाई लेकर उठी, श्यामा ने देखा उसकी तबियत सँभली हुई है। उसके अहं ने फिर अपने आपको सँभाल लिया है। नगर के प्रतिष्ठित नागरिकों में उसकी गणना है, वह एक शिक्षण संस्था की अध्यक्षा है। क्लब, सभा, सोसाइटियों में लोगों की उत्सुक आँखें उसकी प्रतीक्षा करती हैं, उन उत्सुक आँखों के स्वामी उसकी नाजबरदारी करते हैं। श्यामा ! श्यामा की प्रतिष्ठा के विरुद्ध है यों दुर्बलता दिखाना।

उसके कमरे में अँधेरा है। उसकी काली बिल्ली, लीला ईश्वर की लीला की ही तरह ही अन्धकार में छिपी हुई बैठी है। उसकी चमकीली आँखें दीपित हैं। बिल्ली जैसे सोच रही है—मेरी मालकिन का मन आज मुझसे ऐसा क्यों उचट गया है ? और श्यामा ने भी जैसे अपनी लीला की शिकायत को समझकर उसे प्यार से गोदी में लिटा लिया। उसने बिल्ली को दुलराया, प्यार किया, झुककर चूमा और छाती से लगाया। शायद इतने दिल से काली बिल्ली को उसने पहले कभी प्यार नहीं किया था। और सब दिशाओं मे गतिरुद्ध प्रेम, जैसे इस ओर सहसा-असाधारण वेग से उमड़ पड़ा है।

नौकरानी आई। उसने बिजली जलाई। गृहस्वामिनी को देखकर वह चौंकी, फिर सँभली और सूचना देकर चली गई कि खाना मेज पर लगा दिया गया है। श्यामा जैसे असाधारण स्नेह-भाव से उसकी ओर मुसकराई। श्यामा को इस क्षण न जाने क्यों यह ध्यान आया कि उसकी यह छोटी-सी गृहस्थी—वह, उसकी लीला और उसकी नौकरानी

कितनी सुन्दर, कितनी सुखी गृहस्थी है !

हाथ—मुँह धोने के लिए वह गुसल में गई। कुछ गुनगुनाने भी लगी। खाली-खाली मन जैसे भर गया था। क्या वह अपने में पूर्ण नहीं है ? आज गत का मूल्य ही क्या है ? संसार उसका भी तो है ? ··· ··यही······ऐसे ही भाव उसके मन में आ रहे थे।

उसकी दृष्टि खिड़की से बाहर गई। देखा वही उज्ज्वल नक्षत्र जैसे उसकी आँखों की राह उसके अन्तस्तल को भेदने का प्रयत्न कर रहा है। वह फिर चौंकी और उसका आत्मविश्वास जैसे उसकी टाँगों के साथ फिर हिल गया।

वह नक्षत्र ··! नहीं, नहीं, यह विलास नहीं है वह उसका निर्दोष सुखद बचपन नहीं। यह तो कोई जड़-पिंड है, जड़ सूर्य की परिक्रमा करने-वाला, अपनी निश्चित अवधि के बाद अपने आप ही बुझ जानेवाला। पर वह जड़-पिंड यों इतनी तीक्ष्ण दृष्टि से उसके हृदय को क्यों छेद रहा है, उसके मन को क्यों बेध रहा है ?

विलास, विलास, मैं आज पूरे पैंतीस बरस की हो गई—तुम तो जानते ही हो। अब बिना किसी के सहारे नहीं जिया जाता। मुझे किसी का आधार चाहिये। समाज का खोखलापन मुझे पसन्द नहीं ! मुझे तुम्हारी जरूरत है।—श्यामा के कानों में ऐसे ही बहुत-से शब्दों की भनक पड़ी। वह बहुत देर तक खिड़की के सहारे जड़वत् खड़ी रही। आँसू से भरी आँखों को सकरुण भाव से ऊपर उठाकर उसने किसी से पूछा—क्या इतनी सजा काफी नहीं है ?

लौटी, देखा लीला अपने हिस्से का खाना खाकर चली गई है। जूठी रकाबियों में अपना कुछ निशान भी छोड़ गई है। श्यामा का हिस्सा रक्खा है पर श्यामा की इच्छा खाने को न हुई और वह भी अपने पलँग

पर जा लेटी और सो गई ।

श्यामा की आँखें एक बार रात को खुलीं तो उसने देखा लीला उसकी ओर टकटकी लगाये देख रही है, न जाने कब से। श्यामा उठी और लीला को अपनी गोद में लेना चाहा। लीला उछलकर हट गई, जैसे सिर्फ एक बार स्वामिनी से आँख मिलाने की गरज से ही वह वहाँ बैठी थी।

इधर महीनों से श्यामा अपनी लीला के लिए परेशान है। बिल्ली की उसने सब कहीं ख़ोज की है; पर उसकी खोज-खबर किसी को नहीं मिली। कहा जाता है बिल्ली घर के मालिकों को न सही, घर को तो पहचानती है। पर निर्मोही लीला उस रात इस घर से ऐसी निकली कि वहाँ फिर कभी नहीं लौटी।

तब क्या वह काली बिल्ली उस प्यार-मोहब्बत की ही प्रतीक थी जिसके सहारे, सत्य को ठुकराकर श्यामा ने सुख और सन्तोष की खोज की थी, जिससे उसने जिन्दगी में धोखा खाया था !



प्रियम्वदा पाण्डे

प्रियम्वदा पाण्डे !—नाम जितना ही भारी भरकम था, वह उतनी ही सूक्ष्म-शरीर और दुबली-पतली थी। पसलियाँ गिन कर आप उसके दुबलेपन का अन्दाजा नहीं लगा सकते, क्योंकि वह रोगिणी न थी। इतनी फुरतीली और स्वस्थ लड़की आपने शायद ही कभी देखी हो।

जीवन यदि प्रकाश है और मृत्यु अन्धकार तो वह प्रकाश की पतली सी लौ थी और लौ भी ऐसी जो अपनी स्फूर्ति के कारण एक पल स्थिर न रह सके। पान-इलायची, सौंफ-सुपारी, शरबत-चाय-पानी, क्या लाए, किस तरह से खातिर करे उसे यही एक चिन्ता रहती थी। यह बात कई वर्ष पहले की है जब प्रियम्वदा की उम्र १७ साल की थी।

मैं कहता—'प्रियम्वदा ! तुम वास्तव में प्रियभाषिणी हो, मृदुभाषिणी हो, प्रियम्वदा नाम तुम्हारे लिए सार्थक और उपयुक्त ही है लेकिन यह पाण्डे क्या ? अजीब बेमौज़ू शब्द है ! नहीं, नहीं, तुम पाण्डेय भी नहीं लिख सकतीं—उससे तो तुम चोटी-तिलक वाले पण्डित सी मालूम होगी.... !'

वह सिर्फ हँस देती।

स्वाभाविक ही था कि ऐसी प्रियम्वदा से कवि सोमेन्द्र का स्नेह हो गया। एक सुकुमार, मृदुभाषी कवि के नाते प्रियम्वदा भी उसे चाहती थी। लेकिन

क्या प्रियम्वदा भी सोमेन्द्र को उतना ही चाहती थी जितना सोमेन्द्र प्रियम्वदा को ? हाँ और नहीं भी।

मैं कहानी लेखक हूँ। मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखता हूँ। फिर भी हाँ ना में क्यों उत्तर दे रहा हूँ ? कारण प्रियम्वदा कोई साधारण और सामान्य लड़की न थी। वह अपने लिए तो थी ही, और दूसरों के लिए भी एक मनोवैज्ञानिक पहेली थी। वह जितनी ही सरल थी उतनी ही जटिल पहेली थी। वह जितनी सच्ची थी, भाव और भाषा के स्वाभाविक किन्तु अजान वैषम्य के कारण वह उतनी ही अविश्वसनीय थी। क्या इस वैषम्य का कारण लज्जा थी ?

प्रियम्वदा ने आज तक जान बूझकर कोई ऐसा काम न किया था जिसके कारण उसे शर्मिन्दा होना पड़े। इसलिए साधारण बातों में दुराव के कारण उसे झेंप न थी, लेकिन एक सुशील और सुकुमार युवती के हिस्से में जितनी लज्जा आती है, वह उसे भी प्राप्त हुई थी। लज्जा का होना और न होना उसे और दूसरों के लिए एक अजीब पहेली बना देता था।

यद्यपि उस दिन मैं ठीक-ठीक उत्तर न दे सकता था कि प्रियम्वदा सोमेन्द्र को चाहती है या नहीं, किन्तु यदि आज मुझसे कोई यह प्रश्न पूछे तो 'हाँ' के अतिरिक्त और कहूँगा ही क्या ?

सामान्य स्त्री-पुरुषों के प्रेम और प्रणय में दुनियादारी और स्थूलत्व देख कर उसे 'प्रेम' से एक झिझक सी थी और अपनी लज्जा के कारण, अपनी स्त्रियोचित लज्जा के कारण हृदय में कुछ बहकाव भी था। इसलिए जब मैंने पूछा कि क्या वह सोमेन्द्र को प्यार करती है तो वह कुछ न बोली और फिर मेरी तानाजनी के बाद कि वह भी आजकल की पढ़ी-लिखी लड़कियों की तरह अपना मत स्थिर नहीं कर सकती और दूसरों की जान भी

अज़ाब मे डालती है, वह दबी जबान से बोली, 'ऐसा तो कोई व्यक्ति नहीं, जिसे मै सशरीर स्वीकार कर सकूं। लेकिन .. . ।'

'लेकिन वेकिन कुछ नहीं' मैंने बात काटते हुए कड़क कर कहा—'मुझे यह अफलातूनी प्रेम (प्लेटोनिक लव) पसन्द नहीं। इसके कुछ मानी नहीं होते। मैं सोमेन को लिखे देता हूँ कि वह दुविधा में न रहे, तुम उससे विवाह करने के किए तैयार नहीं हो। उसे कष्ट होगा, लेकिन सच बात लिख देने में ही तुम दोनों का कल्याण है। और सुनो, प्रियम्वदा! 'पर्याप्त मात्रा में प्रेम न होने के कारण ही शरीर के प्रति उपेक्षा का भाव होता है,' इस बात को तुम अच्छी तरह समझ लो।

वह कुछ कहना चाहती थी, लेकिन लज्जा ने सहसा उसके मुँह पर लाल हथेली रख दी। वह चुप खड़ी रही मैं कमरे से बाहर हो गया।

मुझे बुद्धिवादी और तर्कवादी और मनोवैज्ञानिक होने का गर्व था। मैंने मन में निश्चित कर लिया कि प्रियम्वदा सोमेन को कभी प्यार ही न करती थी। वह तो केवल एक भावना को, एक कल्पना को प्यार करती थी। हाँ, सोमेन से वह घृणा नहीं करती, थोड़ा-बहुत उसे चाहती भी होगी—सिर्फ इतना ही। इससे अधिक कुछ नहीं। पागल लड़की! फिर दो वर्ष तक वह सोमेन से विवाह की चर्चा क्यों करती रही! वह विनोदशील फ्लर्ट नहीं है, यह मैं निश्चित रूप से जानता था। मैं यह भी जानता था कि सोमेन्द्र के अकल्याण की भावना से या बढ़-बढ़ कर बातें करने के लिए वह वैसे पत्र न लिखेगी, जिनमें राज न था, परदा न था, प्रेम था। उसने मुझे अपने सोमेन के सब पत्र दिखलाए थे। मुझे याद था एक बार जब सोमेन प्रियम्वदा की रुखाई से नाराज हो गया था तो प्रियम्वदा से न रहा गया और उसने लिख ही दिया था—'सोमेन, यह न समझो मैं तुम्हें नहीं चाहती, तुम्हारा विश्वास नहीं करती। मैं वास्तव में तुम्हारे कवि-

हृदय को दुखाना नहीं चाहती, उसे नर्म करना चाहती हूँ स्नेह के बिना कौन ऐसी बात लिखेगा ? लेकिन उसी स्थल पर आगे लिखा था—'लेकिन, सोमेन मुझे और सब लोगों के विवाह-सम्बन्ध, प्रेम-प्रणय, से घृणा है।'

'लेकिन वेकिन कुछ नहीं' मेरा हृदय जैसे गूँज उठा, 'नासमझ लड़की! वास्तविकता को छूने से डरती है। सपनों की सेज पर सोने वाली इस बालिका को वास्तविकता के पत्थर के फर्श पर पैर रखने से भी डर लगता है।'

मैंने अपने मन में निश्चय किया, प्रियम्वदा वास्तव में सोमेन को (निराकार कल्पना नहीं, बल्कि हाड़-मास के सोमेन को) प्रेम ही नहीं करती। स्थूलत्व से घृणा का बहाना भी उन्हीं व्यक्तियों को करना पड़ता है जिन्हें अपने प्रेमी पर तन-मन से पूरी भक्ति नहीं होती, निर्विवाद प्रेम नहीं होता, अन्यथा शरीर और आत्मा का परदा कैसा ? और अफलातूनी प्रेम के आधार पर भला विवाह का उत्तरदायित्व कैसे किया जा सकता था ? मैंने इस भ्रम का अन्त करने के लिए, और दोनों के कल्याण की भावना से सोमेन को सब कुछ समझा कर लिख दिया। सोमेन से धैर्य से काम लेने और मन में कटुता का भाव न लाने का अनुरोध कर मैंने पत्र समाप्त किया, जिसका संक्षेप में यही मतलब था कि प्रियम्वदा और सोमेन की शादी न हो सकेगी।

आज मैं जानता हूँ कि यह मेरी गलती थी। लेकिन तब मैं और करता ही क्या ? मैंने प्रियम्वदा का विश्वास किया। मुझे क्या मालूम था कि जो प्रियम्वदा मुझे अपने और अपने प्रेमी के प्रेम-पत्र (वे प्रेम-पत्र बहुधा नीति-शास्त्र और व्यक्तिगत तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं पर विवेचना-पूर्ण लेख होते थे) दिखाने में शर्म न करेगी, वह जीवन के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर शरमा जायगी ? शायद दोष प्रियम्वदा का भी न था। वह अपने हृदय की गहराई

को न जानती थी। शान्त सरोवर से उसके हृदय में कितना पानी था, यह बात तो—संयोगवश, बीचों-बीच बड़े वेग-बल से किसी पत्थर के टूट पड़ने से ही—मालूम हो सकती थी।

दो दिन बाद प्रियम्वदा मुझसे मिली। उसने मुझे बुला भेजा। बहुत घबराई हुई थी। शायद पिछली रात सो भी न सकी हो। शायद दोनों रातें आँखों में ही बिताई हों। मुँह उसका पीला था, पैर शिथिल। आँखें वैसी ही स्वच्छ—मुझे भ्रम हुआ, आँखें लाल नहीं, रोई क्या होगी?

दबी जबान उसने पूछा—'भाई साहब, सोमेन के स्वास्थ्य पर तो इसका बुरा असर न पड़ेगा? कोई अकल्याण की बात ·· ·?'

मैंने गम्भीरता के साथ अपने दृढ़ स्वर में कहा—'सोमेन के स्वास्थ्य के विषय मे तुम्हारी चिन्ता को मैं एक मित्र के हृदय से समझ सकता हूँ, लेकिन सोमेन को तुम शान्ति से ही रहने दो तो अच्छा है। इस मौखिक स्नेह से कोई लाभ नहीं, प्रियम्वदा! शायद तुम्हारा खयाल है कि सोमेन कवि है, भावुक है, आवेश मे आकर कोई ऐसा काम न कर डाले! तो यह जान लो, प्रियम्वदा, वह पुरुष है।' मेरे कहने के ढङ्ग में रुखाई थी, वाक्यो में कटुता थी। प्रियम्वदा मर्माहत हो उठी होगी, लेकिन मुख नीचा लिए हुए चुपचाप खड़ी रही।

वक्त बीतता गया। कौन से ऐसे घाव हैं जो समय से भर नहीं जाते? कौन सा ऐसा अभाव है जो पूरा नहीं हो जाता? सोमेन और प्रियम्वदा के बीच भी समय की सरिता नियमित गति बह रही थी। तट के तरुओं से वे स्थिर प्रतीत होते थे। अनुभवी मनोवैज्ञानिक की भाँति उदासीन भाव से हँस कर मैंने कहा—'भावुक युवा-हृदय भी धीरे-धीरे समय की नियमिति गति से प्रभावित हो ही जाते हैं।'

एक दिन मैंने अवसर देखकर प्रियम्वदा से कहा—देखो, प्रियम्वदा,

हृदय को दुखाना नहीं चाहती, उसे नर्म करना चाहती हूँ स्नेह के बिना कौन ऐसी बात लिखेगा ? लेकिन उसी स्थल पर आगे लिखा था—'लेकिन, सोमेन मुझे और सब लोगों के विवाह-सम्बन्ध, प्रेम-प्रणय, से घृणा है।'

'लेकिन वेकिन कुछ नहीं' मेरा हृदय जैसे गूँज उठा, 'नासमझ लड़की! वास्तविकता को छूने से डरती है। सपनों की सेज पर सोने वाली इस बालिका को वास्तविकता के पत्थर के फर्श पर पैर रखने से भी डर लगता है।'

मैंने अपने मन मे निश्चय किया, प्रियम्वदा वास्तव में सोमेन को (निराकार कल्पना नहीं, बल्कि हाड़-मास के सोमेन को) प्रेम ही नहीं करती। स्थूलत्व से घृणा का बहाना भी उन्ही व्यक्तियों को करना पडता है जिन्हें अपने प्रेमी पर तन-मन से पूरी भक्ति नहीं होती, निर्विवाद प्रेम नहीं होता, अन्यथा शरीर और आत्मा का परदा कैसा ? और अफलातूनी प्रेम के आधार पर भला विवाह का उत्तरदायित्व कैसे किया जा सकता था ? मैंने इस भ्रम का अन्त करने के लिए, और दोनों के कल्याण की भावना से सोमेन को सब कुछ समझा कर लिख दिया। सोमेन से धैर्य से काम लेने और मन में कटुता का भाव न लाने का अनुरोध कर मैंने पत्र समाप्त किया, जिसका संक्षेप मे यही मतलब था कि प्रियम्वदा और सोमेन की शादी न हो सकेगी।

आज मै जानता हूँ कि यह मेरी गलती थी। लेकिन तब मैं और करता ही क्या ? मैंने प्रियम्वदा का विश्वास किया। मुझे क्या मालूम था कि जो प्रियम्वदा मुझे अपने और अपने प्रेमी के प्रेम-पत्र (वे प्रेम-पत्र बहुधा नीति-शास्त्र और व्यक्तिगत तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं पर विवेचना-पूर्ण लेख होते थे) दिखाने में शर्म न करेगी, वह जीवन के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर शरमा जायगी ? शायद दोष प्रियम्वदा का भी न था। वह अपने हृदय की गहराई

को न जानती थी। शान्त सरोवर से उसके हृदय में कितना पानी था, यह बात तो—संयोगवश, बीचों-बीच बड़े वेग-बल से किसी पत्थर के टूट पड़ने से ही—मालूम हो सकती थी।

दो दिन बाद प्रियम्वदा मुझसे मिली। उसने मुझे बुला भेजा। बहुत घबराई हुई थी। शायद पिछली रात सो भी न सकी हो। शायद दोनों रातें आँखों में ही बिताई हों। मुँह उसका पीला था, पैर शिथिल। आँखें वैसी ही स्वच्छ—मुझे भ्रम हुआ, आँखें लाल नहीं, रोई क्या होगी?

दबी जबान उसने पूछा—'भाई साहब, सोमेन के स्वास्थ्य पर तो इसका बुरा असर न पड़ेगा? कोई अकल्याण की बात ' ?'

मैंने गम्भीरता के साथ अपने दृढ स्वर में कहा—'सोमेन के स्वास्थ्य के विषय में तुम्हारी चिन्ता को मैं एक मित्र के हृदय से समझ सकता हूँ, लेकिन सोमेन को तुम शान्ति से ही रहने दो तो अच्छा है। इस मौखिक स्नेह से कोई लाभ नहीं, प्रियम्वदा! शायद तुम्हारा खयाल है कि सोमेन कवि है, भावुक है, आवेश में आकर कोई ऐसा काम न कर डाले! तो यह जान लो, प्रियम्वदा, वह पुरुष है।' मेरे कहने के ढङ्ग में रुखाई थी, वाक्यों में कटुता थी। प्रियम्वदा मर्माहत हो उठी होगी, लेकिन मुख नीचा लिए हुए चुपचाप खड़ी रही।

वक्त बीतता गया। कौन से ऐसे घाव हैं जो समय से भर नहीं जाते? कौन सा ऐसा अभाव है जो पूरा नहीं हो जाता? सोमेन और प्रियम्वदा के बीच भी समय की सरिता नियमित गति बह रही थी। तट के तरुओं से वे स्थिर प्रतीत होते थे। अनुभवी मनोवैज्ञानिक की भाँति उदासीन भाव से हँस कर मैंने कहा—'भावुक युवा-हृदय भी धीरे-धीरे समय की नियमिति गति से प्रभावित हो ही जाते हैं।'

एक दिन मैंने अवसर देखकर प्रियम्वदा से कहा—देखो, प्रियम्वदा,

अब तुम अबोध बालिका नहीं हो। सुबोध को तुम जानती हो न ? वही जिसका उस दिन मेरे घर तुमसे परिचय हुआ था। इसी साल बैरिस्टर होकर लौटा है। घर सम्पन्न है। उन विलायती बाबुओं और साहबों की तरह भी नहीं है। तुम्हारी भाँति आदर्शवादी है और सच्चरित्र भी। मैंने उसके साथ तुम्हारे विवाह की बात सोची है। तुम क्या कहती हो ? प्रियम्वदा के मुँह से एक शब्द भी न निकल सका।

मैंने मौन को स्वीकृति का लक्षण समझा था—शायद ठीक ही, लेकिन सुबोध को शुभ संवाद दिया ही था कि एक दिन प्रियम्वदा ने घबराए, किन्तु खुले स्वर में बिना झिझके हुए कहा—"भाई साहब, अभी इसी गाड़ी से हरद्वार जा रही हूँ। सोमेन, बहुत बीमार है। समय-समय पर अपनी कुशल-क्षेम की सूचना देते रहने का वादा करने पर भी उसने तो नहीं लिखा, लेकिन शारदा—हाँ, हाँ वही मेरी सखी, शारदा—उसने लिख भेजा है, वहाँ वह पड़ोस में रहती है। भाई साहब, अभी पत्र मिला है। तार भी नहीं दिया। थोड़ा-सा सामान सहेज कर ताँगे पर साथ ले आई हूँ। आपको मुझे पहुँचाना होगा।"

रास्ते में ज्यादा बातें न हुईं। मै बिलकुल अन्धकार में था कि आखिर इसका इरादा क्या है ? क्या सोमवार तक हम लौट सकेंगे ? सुबोध को भी तो सूचना देनी थी ? लेकिन प्रियम्वदा से कुछ कहने-सुनने का साहस न होता था।

बमुश्किल मकान खोजा। शहर के कोने में कहीं छिपा हुआ, जैसा वह टूटा-फटा मकान था, टूटे से बड़े पलङ्ग पर से ही पाटी के सहारे लेटा हुआ सोमेन का जर्जर शरीर था। कपड़े गन्दे थे। कमरा अँधेरा था और एक अंधेरे कोने में बैठी हुई सोमेन की माँ काढ़ा तैयार कर रही थी।

जरा देर को सोमेन की आँखें लग गई थीं इसलिए हमने बहुत दबे पाँव प्रवेश किया था। सोमेन की माँ ने कुछ देर तक तो प्रियम्वदा को पहचानने की कोशिश की और फिर सहसा उठी, काढ़े में सने गन्दे हाथों को फैला आगे बढी और प्रियम्वदा को गले से लगा लिया—'बेटी आगई तू? शारदा कहती थी तू जरूर आयगी। सुमन से रोज कहती थी, बेटा चिट्ठी लिख दे, लेकिन उसने एक न सुनी, न कुछ जबाब ही देता था। आँखें भर लाता था और मुझसे आँसू छिपाने के लिए चादर ओढ़ लेता था। फिर जरूर-जरूर बुखार बढ़ आता था। इसलिए मैंने कहना भी छोड़ दिया। शारदा ने लिख दिया, बेटी। ईश्वर करे उसका सुहाग अमर हो। मैं तो निरक्षरा हूँ।' अन्तिम वाक्य बुढ़िया के रुद्ध कण्ठ से साफ-साफ न निकल सका, लेकिन आँखों से आँसू निकल पड़े।

रात को जगदम्बा के पास बैठी हुई प्रियम्वदा ने धीरे से पूछा—'क्या शारदा आजकल यहाँ नहीं आती, माँ?' जगदम्बा ने स्थिर स्वर में कहा, जिसमें न क्षोभ था न शिकायत—'बेटी, गैरों के यहाँ अपनी बालक नन्हीं बहू को रोज-रोज कौन आने देता है? लेकिन उसके पति रोज ही आते हैं। दवा-दारू वही तो लाते हैं, बेटी! बड़े ही भले आदमी हैं।' सुबह हुआ। प्रियम्वदा के भीगे खुले बाल उसकी पीठ और कन्धों पर पड़े थे। उत्सुकता और बेचैनी से मेरा गला घुट रहा था फिर भी कुछ पूछने की मेरी हिम्मत नहीं पड़ती थी। क्या आपने भी किसी मुसीबतजदा स्त्री के चेहरे की ओर देखा है?

"नाश्ता करने के बाद आपको एक घन्टा और है। गाड़ी नौ बजे जाती है। चाचा जी से क्षमा माँग लीजिएगा और मेरी किताबें और कागज-पत्र भिजवा दीजिएगा," प्रियम्वदा ने कहा। वह मुझे धन्यवाद

क्या दती है ? क्या मैं नहीं जानता वह मरे प्रति कितनी कृतज्ञ है ?

'लकिन सुबोध ? उससे क्या कहूगा ? कैसे मुँह दिखलाऊँगा ?' ये प्रश्न मेरे अन्तरतम को अधीर कर रहे थे। फिर भी साहस न होता था कि ओठ खोलूँ लेकिन आँखो में वे प्रश्न सहसा सजग हो उठे।

प्रियम्वदा फिर भी स्थिर रही। उसकी आँखों में पहली सी झिझक न थी, सहसा कह उठी—'हाय ! भाई साहब, आप ऐसा सोच भी कैसे सके ? क्या मै इन्हें छोड़ कर जा सकूँगी ?'

मैंने विदा ली और प्रियम्वदा की ओर पीठ फेरी। विचित्र पहेली का निरीक्षण तो मनोवैज्ञानिको को आकर्षक मालूम होता है, लेकिन जब उस पहेली की वजह से उन्हें शर्मिन्दा होना पड़े तो उसमे अधिक आकर्षण नहीं रह जाता।

'अजीब है यह लड़की ? क्या इसके मुँह में पहले जबान न थी ?,—मेरे मन मे रह-रह कर यही एक बात गूँज रही थी, लेकिन अन्तरतम से उसके कल्याण के लिए प्रार्थना कर और उसके अपराध के लिए उसे क्षमा कर मैं घर की ओर चल दिया।

सुबोध की असाधारण भलमनसाहत की वजह से मैं मुँह दिखाने योग्य रह गया।

पन्द्रह दिन बाद प्रियम्वदा की चिट्ठी मिली। सोमेन को ज्वर न था। कमजोरी अजहद थी। अतिसार ने सारा शरीर जर्जर कर दिया था, लेकिन कल अनायास ही हृद्‌गति के रुक जाने से माँ की मृत्यु हो गई थी और इस सदमे से सोमेन को ज्वर का कहीं दूसरा दौरा न हो जाय, इस डर से प्रियम्वदा—बेचैन थी। घर का कुछ प्रबन्ध भी करना था। इसलिए उसने मुझे बुलाया था।

मैं दूसरे ही दिन हरद्वार पहुँच गया। किसे विश्वास होगा कि बुढ़िया

१५ हजार रुपया छोड़कर मरी थी। सोमेन के लिए वह इस रकम को जिन्दगी भर सीने से लगाए रही। प्रियम्वदा के लिए उसने बीस तोला सोना छोड़ा था।

मैंने पहला काम यह किया कि छः हजार की रकम से एक छोटा सा बङ्गला उनके लिए खरीद दिया। मकान छोटा था लेकिन साफ-सुथरा था और प्रियम्वदा को पसन्द था। सामने कुछ ही दूर पर गङ्गा थी। मकान में अच्छी रुचि का कुछ फर्नीचर भी था।

सोमेन और प्रियम्वदा का विवाह हुआ, गृह-प्रवेश हुआ। मैंने विदा माँगी। प्रियम्वदा आँखें भर लाई—'भाई साहब, मुझे क्षमा कीजिएगा। मुझे आशीर्वाद भी देते जाइए।'

प्रियम्वदा के मुँह से इतनी बातें कैसे निकल सकीं, आश्चर्य था। कि वह पहली झिझक, वह झेंप सब कहाँ हो गई। उसे आश्चर्य हुआ था उसी दिन जब मृतप्राय सोमेन के शरीर को उसने स्पर्श किया था—लेकिन तब तो सोमेन का शरीर निप्रिय था। 'शरीर' की ओर से जिस आक्रमण का, जिस स्थूलत्व का उसे भय था वह सोमेन के शरीर में उस समय न था। हाँ, यदि स्वस्थ, सुन्दर शरीर होने पर भी यह शरीर इतना ही विकारहीन हो!—प्रियम्वदा ने तभी सोचा था।

सोमेन के खूब स्वस्थ्य होने के बाद, एक दिन शाम को दोनों गङ्गा के किनारे बैठे थे। छिपी हुई रजनी ने गङ्गा की शुभ्र धारा में अपना सोने का जाल बिछा कर लहरों की चञ्चल मछलियों को पकड़ने का उपक्रम किया था। किन्तु क्या समय की अबोध गति सी गङ्गा की लहरों को वह तिमिरमयी रजनी पकड़ सकती थी? चेतनाभूत जीवों की भाँति गङ्गा के ब्रह्मस्वरूप अन्तस्तल में, वे लहरें कुछ देर अठखेलियाँ कर छिप जाती थीं। क्या उन्हें रजनी का जाल पकड़ सकता था! फिर जीवन को भी

मृत्यु से भय क्यों है ! वह व्यर्थ की आशङ्का क्यों है ? अणु-परमाणुओं में खेलता हुआ जीवन, जीवन के अन्तरतल में छिप जाता है। मृत्यु के कर उसे पकड़ नहीं पाते, फिर जीवन को मृत्यु से भय क्यों ?

'क्यों, प्रिय, यदि मैं मर जाता तो ?'—सोमेन ने लहरों के इन्द्रजाल से आँखें हटाते हुए पूछा।

प्रियम्वदा की आँखें अभी लहरों में ही उभली थीं—'मैं जीवन की मृत्यु में विश्वास नहीं करती', उसने कहा।

'क्यों प्रियम्वदा, तुम्हें मुझसे इतनी झिझक, इतनी लाज क्यों थी ? सच कहो, तुम्हें मुझ पर पूरा विश्वास नहीं ही था न ?' सोमेन ने फिर पूछा।

इस बार प्रियम्वदा की आँखें गङ्गा के वक्षस्थल से हट गईं, जैसे किसी की आहट पा बर्फ पर बैठे हुए दो चकोर सहसा उड़ जायँ। डूबते हुए सूर्य की हसरत-भरी निगाह के कारण या न जाने सोमेन के प्रश्न के कारण या न जाने अपने पिछले व्यर्थ के भय के कारण उसका मुख-मण्डल लाज से लाल हो गया। वह कुछ न बोली। मन में यही सोचती रही—'यदि कहीं पहले ही मुझे इस बात का विश्वास हो जाता कि तुम, मेरे देवदूत, इतने अशरीर हो जैसे भावना, फिर भी इतने ही जीवन-पूर्ण जैसे प्रेरणा, और इतने ही स्थूलत्व-हीन हो जैसे पुष्प, तो क्यों मुझे वह व्यर्थ की झिझक होती ?'

पश्चिम में सूर्य डूब गया। निराश हो रजनी ने अपना सोने का जाल हटा लिया और छिपे हुए स्थान से प्रकट हो गई। गङ्गा की लहरें मुक्त हो नए रव के साथ बहने लगीं—उस रव को वही समझ सकता है, जिसने अँधेरी रात में, नदी के बहते पानी के स्वर को सुना हो।

दोनों घर लौटे। निस्सीम नील व्योम में स्वच्छन्द उड़ने वाली चिड़िएँ

सशरीर होते हुए भी क्या अशरीर नहीं होती ? तो क्या सोमेन और प्रियम्वदा का प्रेम आकाश की ही भाँति सुनील और, निस्सीम न था, जिसमें वे दो प्राणी स्थूलत्वहीन पक्षियों की भाँति केवल प्रेममय प्राण होकर स्वच्छन्द विहार करते थे ? प्रियम्वदा को संशय न था, आशङ्का न थी। सोमेन को वासना न थी, अधिकार की भावना न थी।

यह बात नही कि प्रियम्वदा के हृदय में सोमेन के प्रति प्रेम की कमी थी। या अपने शरीर का समर्पण वह आत्म-रक्षा के खयाल से न कर सकी थी। किन्तु अपने देवदूत ऐसे प्रेमी को वह हाड़-माँस-मिट्टी का शरीर कैसे देती ? यह बात नहीं कि प्रियम्वदा के शरीर में सोमेन के लिए आकर्षण न था—उसे प्रियम्वदा के रोम-रोम से अपार प्रेम था, किन्तु अपनी किन्नरी सी प्रेमिका के शरीर पर अधिकार पाने की भावना वह हृदय में कैसे लाता ? वे प्रेमी और प्रेमिका थे, स्त्री और पुरुष नहीं।

उसी वर्ष सोमेन के स्वास्थ्य के खयाल से उन्होंने भारत-भ्रमण किया। हँसी-खुशी घर लौट आए। उसी रात प्रियम्वदा ने प्रश्न किया—'क्या दुनिया इतनी सी ही है, सोमेन ?

सोमेन मुस्करा दिया किन्तु अन्धकार मे उसकी मुस्कराहट को प्रियम्वदा ने नहीं देखा। उसने फिर कहा—'क्या सो गए सोमेन ?'

"न, प्रियम्वदा !"

"तो बोलते क्यों नहीं ?"

"कहना चाहता था कि अपने सुख मे इतना विशाल संसार भी तुम्हें छोटा मालूम होता है, लेकिन फिर चुप हो गया", सोमेन ने कहा।

"हाँ, यही बात है, सोमेन !"—प्रियम्वदा ने कहा। लम्बी यात्रा के बाद थके हुए वे एक पथ के पथिक गहरी निद्रा में सो गए।

शायद स्वप्नों ने भी उनकी सुख-निद्रा में बाधा डालने की कोशिश

नहीं की। विधाता ने तो कहना चाहा होगा कि प्रियम्वदा को संसार छोटा-सा लगता है इसलिए कि अभी उसने सब कुछ देखा ही नहीं—दुनिया को भुला देने वाला सुख तो अविचल नही !

प्रियम्वदा का सुख अविचल न था। जिस सोमेन को वह एक बार यम के हाथों से, अपने सावित्री के से प्रेम के कारण, छुड़ा लाई थी, उसे वह सब दिन अपने पास न रख सकी। पतिव्रता सावित्री के पास केवल प्रेम का ही बल न था' पत्नीत्व और सशरीर साहचर्य का भी उसे बल था। प्रियम्वदा सोमेन के शरीर को कभी न अपना सकी थी।

प्रियम्वदा की माँग का सिन्दूर धुल गया।

मैं उसे फिर चाचा जी के पास ले आया। उन्होंने प्रियम्वदा को पहले ही क्षमा कर दिया था और जैसे हमेशा अपनी पुत्री की तरह रक्खा था, आज भी उसी प्रकार उसे ग्रहण किया।

प्रियम्वदा विधवा थी, लेकिन किसे विश्वास होता कि वह विधवा है ? कुछ भी अन्तर न मालूम होता था, तब और अब में, किन्तु यह बात निकट से निरीक्षण करने वालों के लिए सत्य नहीं। मैं जानता हूँ कि उसमें क्या परिवर्तन हो गया था। वह जीवित थी, लेकिन जीवन-शक्ति का खिलौना बन कर। जीवित थी इसलिए कि जीवनशक्ति उसे जिलाए हुए थी। वह एक तिनके की तरह थी—आग में डाल दो जल जाय, पानी में डाल दो बह जाय। जीवन शक्ति यदि उसे मृत्यु के हाथों में सौंपना चाहती तो क्या वह विरोध कर सकती थी ? व्यक्ति की चेतना के प्रथम अंकुर, विद्रोह को उसके हृदय से किसी ने निर्मूल कर दिया था। इसका कारण ?

जब उसने देखा कि सोमेन ही उसके पास न रह सका तो फिर किसके लिए इच्छा रक्खे और किसके लिए अनिच्छा। लेकिन कारण केवल इतना ही नहीं। सोमेन को वापिस पाने के लिए तब वह सब कुछ दे सकती थी—

शरीर, प्राण, सिद्धान्त, सत्य, प्रेम, सब कुछ ! जब सब कुछ दे डालने की भावना पैदा होकर बलवती हुई तो निजत्व का अहङ्कार—विरोध की भावना ही कहाँ रही ?

इस वर्ष भी बसन्त आया, लेकिन प्रियम्वदा के सुप्त निजत्व को वह न जगा सका। कोकिल कुहुक-कुहुक कर थक गई, किन्तु प्रियम्वदा के हृदय में, वह चेतना के अँकुर न जगा सकी—आम और पीपल पीले-लाल पल्लवों से भर गए। कोयल की हूक से पलाश के उर में पुरानी बातें, हवा के हाथों से उकसाए हुए शोलों की तरह, धधक उठीं लेकिन प्रियम्वदा की चेतना विस्मृति की भस्म से वैसी ही ढकी हुई रही।

ग्रीष्म की शान्त शाम वियोगियों के हृदय में मिलन की याद जगा देती है, लेकिन प्रियम्वदा के लिए उसमें भी कोई विशेषता न थी।

आषाढ़ आया, और गाढ़े साँवले रङ्ग के बादल, युगों से दबी हुई किसी की अतृप्त आकांक्षा की तरह उमड़-घुमड़ कर आस्मान में उठने लगे। उनकी छाया में वृक्षों की हरीतिमा गहरी होने लगी, जैसे बहुत दिन के बिछुड़न के बाद प्रियतम के सुखद-चुम्बन के नीचे तरुणी के नयनों की श्याम पुतलियाँ श्यामलतर हो जाती हैं। रात-रात भर की अटूट वर्षा से सुबह तक जल-जङ्गल एक हो जाते थे जैसे दृढ़ प्रेमालिङ्गन में दो प्रेमी द्वैत का भाव भूल जाते हैं। पावस की मावस के साथ क्षणिक विद्युत प्रकाश का खेल होने लगा। बिजली चमक कर विलीन हो जाती थी, जैसे आँचल का आश्रय छिन जाने पर और आततायी पवन को सामने खड़ा हुआ देख, पतली-सी दीप-शिखा घबराहट और भय से थर्-थर् काँप, अपना सब सञ्चित प्रकाश उसे अर्पण कर देती है। प्रवासी यक्ष की आशा में विरह-विधुरा यक्षिणी की चेतना जग उठी होगी, किन्तु प्रियम्वदा को किस प्रवासी की आशा थी, जो उसे वर्षा के आगमन से चेत होता ?

सितम्बर का रङ्गीन महीना भी उसे नींद से न जगा सका। धीरे-धीरे शरद् का चिन्तामुक्त नील गगन अपने प्रसार को बढ़ाने लगा। सभी सचेतन प्राणी उसकी अकलुष नीलिमा में अपनी चिन्ताओं को डुबाने लगे, किन्तु प्रियम्वदा के लिए उसके पास कोई सन्देश न था। शरद् पूर्णिमा का अमृत तृण-तरु पर बरसा, किन्तु प्रियम्वदा उससे वञ्चित ही रही। वह उसी संसार में थी, लेकिन उसमें अपना था क्या?

निश्चेष्ट और चेतनाहीन मूर्ति की भाँति बैठी, दिन भर वह शरद् के नीले आस्मान में बनते और बिगड़ते, प्रकट और लीन होते शुभ्र बादलों को देखा करती थी। मानसरोवर से उड़ कर दक्षिण की ओर जाते हुए हँसों के छूटे हुए दो-चार शुभ्र पङ्खों से वे बादल जितने हल्के और विकारहीन थे उतने ही निजत्वहीन भी। प्रियम्वदा के निर्मल नेत्रों की भाँति अब वे भी जल भरे न थे। उनका कोई विशेष रूप न था—प्रियम्वदा की भाँति वे भी अहङ्कार-रहित थे। जैसे प्रियम्वदा जीवनशक्ति का खिलौना थी, शरद् के शुभ्र बादल हवा के खिलौने थे।

अनेक रूप धारण कर वे विलीन हो जाते थे। उनकी सफेदी नीलिमा में बेमालूम घुल जाती थी, किन्तु प्रियम्वदा को इस क्रिया का ध्यान न था। नदी के बहते हुए पानी को घण्टों तक अपलक और निश्चल चेष्टा से देखते-देखते क्या दर्शक के लिए गति गतिहीन नहीं हो जाती? प्रियम्वदा भी तट पर बैठे हुए किसी दर्शक की भाँति ही थी। जीवन की अबाध गति ने अब उसे चेतनाहीन बना दिया था और उसे अबाध गति निश्चल प्रतीत होती थी।

रोज सुबह चाचा जी के साथ वह घूमने जाती थी, लेकिन शायद ही कभी ऐसा मौका आया हो जब वह अपने चाचा के प्रश्नों का सहानुभूति या विरोध के साथ कुछ भी उत्तर दे सकी हो। जहाँ तक चाचा जी जाते

वह भी चली जाती थी; वे जब विश्राम लेते, वह भी बैठ जाती थी और जब वे लौटना चाहते वह भी लौट पड़ती। कभी भी तो उसने नहीं कहा कि अमुक पुष्प सुन्दर है वह उसे कुछ अधिक देर तक देखना चाहती है या कि अब वह थक गई है घर लौट जाना चाहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह कभी थकती न थी। थक जरूर जाती थी, किन्तु उस थकान से प्रियम्वदा को एक विशेष प्रकार का सुख मिलता था। संसार के साथ कुछ देर को अनायास ही उसे सामञ्जस्य मालूम होने लगता था, उसे सामञ्जस्य की अनुभूति होती थी जब थकान के शैथिल्य में सारा संसार उसे विशृङ्खल प्रतीत होता था। थके पैरों से जब वह घर लौटती तो उसे मालूम होता जैसे वह किसी अज्ञात पथ के पथिक सी युगों से चल रही है !

एक दिन चाचा जी से न रहा गया। 'बेटी एक बात मानोगी ?' उन्होंने कहा; किन्तु गले की खुश्की इतनी अधिक बढ़ गई कि उन्हें वहीं रुक जाना पड़ा। किन्तु, अपनी इस असमर्थता के बावजूद भी दूसरे ही क्षण उनका मन हलका हो गया, यह सोच कर कि अच्छा हुआ एक साथ सब कुछ नहीं कह डाला और अब इस अनिश्चित प्रश्न से प्रियम्वदा का रुख भी मालूम हो जायगा।

प्रियम्वदा ने चाचा जी की ओर देखा—उसकी आँखों में पूरा प्रश्न जानने की उत्कण्ठा थी और उससे भी प्रबल एक और भाव था, जिसका अर्थ मैं तो यही लगाऊँगा कि प्रियम्वदा का निजत्वहीन स्त्रीत्व जैसे कह रहा था—'प्रियम्वदा क्यों न मानेगी आपकी बात ?'

अपने रुद्ध कण्ठ को एक बार साहस के साथ साफ कर चाचा जी ने पाँच-सात वाक्यों में ही सब कुछ समझा दिया। दूसरे ही क्षण मन ही मन वे सोच रहे थे—'क्या इतना आसान था सब कुछ कह डालना ? तो कुछ दिन पहले ही क्यों न कह दिया ?'—और उत्तर की आशा में वे प्रियम्वदा

सितम्बर का रङ्गीन महीना भी उसे नींद से न जगा सका। धीरे-धीरे शरद् का चिन्तामुक्त नील गगन अपने प्रसार को बढ़ाने लगा। सभी सचेतन प्राणी उसकी अकलुष नीलिमा में अपनी चिन्ताओं को डुबाने लगे, किन्तु प्रियम्वदा के लिए उसके पास कोई सन्देश न था। शरद् पूर्णिमा का अमृत तृण-तरु पर बरसा, किन्तु प्रियम्वदा उससे वञ्चित ही रही। वह उसी संसार मे थी, लेकिन उसमें अपना था क्या?

निश्चेष्ट और चेतनाहीन मूर्ति की भाँति बैठी, दिन भर वह शरद् के नीले आसमान में बनते और बिगड़ते, प्रकट और लीन होते शुभ्र बादलों को देखा करती थी। मानसरोवर से उड़ कर दक्षिण की ओर जाते हुए हँसों के छूटे हुए दो-चार शुभ्र पङ्खों से वे बादल जितने हल्के और विकारहीन थे उतने ही निजत्वहीन भी। प्रियम्वदा के निर्मल नेत्रों की भाँति अब वे भी जल भरे न थे। उनका कोई विशेष रूप न था—प्रियम्वदा की भाँति वे भी अहङ्कार-रहित थे। जैसे प्रियम्वदा जीवनशक्ति का खिलौना थी, शरद् के शुभ्र बादल हवा के खिलौने थे।

अनेक रूप धारण कर वे विलीन हो जाते थे। उनकी सफेदी नीलिमा में बेमालूम घुल जाती थी, किन्तु प्रियम्वदा को इस क्रिया का ध्यान न था। नदी के बहते हुए पानी को घण्टों तक अपलक और निश्चल चेष्टा से देखते-देखते क्या दर्शक के लिए गति गतिहीन नहीं हो जाती? प्रियम्वदा भी तट पर बैठे हुए किसी दर्शक की भाँति ही थी। जीवन की अबाध गति ने अब उसे चेतनाहीन बना दिया था और उसे अबाध गति निश्चल प्रतीत होती थी।

रोज सुबह चाचा जी के साथ वह घूमने जाती थी, लेकिन शायद ही कभी ऐसा मौका आया हो जब वह अपने चाचा के प्रश्नों का सहानुभूति या विरोध के साथ कुछ भी उत्तर दे सकी हो। जहाँ तक चाचा जी जाते

वह भी चली जाती थी; वे जब विश्राम लेते, वह भी बैठ जाती थी और जब वे लौटना चाहते वह भी लौट पड़ती। कभी भी तो उसने नहीं कहा कि अमुक पुष्प सुन्दर है वह उसे कुछ अधिक देर तक देखना चाहती है या कि अब वह थक गई है घर लौट जाना चाहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह कभी थकती न थी। थक जरूर जाती थी, किन्तु उस थकान से प्रियम्वदा को एक विशेष प्रकार का सुख मिलता था। संसार के साथ कुछ देर को अनायास ही उसे सामञ्जस्य मालूम होने लगता था, उसे सामञ्जस्य की अनुभूति होती थी जब थकान के शैथिल्य में सारा संसार उसे विशृङ्खल प्रतीत होता था। थके पैरों से जब वह घर लौटती तो उसे मालूम होता जैसे वह किसी अज्ञात पथ के पथिक सी युगों से चल रही है!

एक दिन चाचा जी से न रहा गया। 'बेटी एक बात मानोगी?' उन्होंने कहा; किन्तु गले की खुश्की इतनी अधिक बढ़ गई कि उन्हें वहीं रुक जाना पड़ा। किन्तु, अपनी इस असमर्थता के बावजूद भी दूसरे ही क्षण उनका मन हलका हो गया, यह सोच कर कि अच्छा हुआ एक साथ सब कुछ नहीं कह डाला और अब इस अनिश्चित प्रश्न से प्रियम्वदा का रुख भी मालूम हो जायगा।

प्रियम्वदा ने चाचा जी की ओर देखा—उसकी आँखों में पूरा प्रश्न जानने की उत्कण्ठा थी और उससे भी प्रबल एक और भाव था, जिसका अर्थ मैं तो यही लगाऊँगा कि प्रियम्वदा का निजत्वहीन स्त्रीत्व जैसे कह रहा था—'प्रियम्वदा क्यों न मानेगी आपकी बात?'

अपने रुद्ध कण्ठ को एक बार साहस के साथ साफ कर चाचा जी ने पाँच-सात वाक्यों में ही सब कुछ समझा दिया। दूसरे ही क्षण मन ही मन वे सोच रहे थे—'क्या इतना आसान था सब कुछ कह डालना? तो कुछ दिन पहले ही क्यों न कह दिया?'—और उत्तर की आशा मे वे प्रियम्वदा

की ओर ही देखने लगे। प्रियम्वदा सिर झुकाए हुए उनके सिरहाने बैठी थी।

चाचा जी ने अपनी बात कह कर अन्त में एक और वाक्य अत्यन्त सुन्दर ढङ्ग से जोड़ दिया था—'बेटी मुझे उम्मीद है तुम मेरे सुख के लिए सब कुछ कर सकोगी।' क्या प्रियम्वदा का कृतज्ञ हृदय इस अनुरोध को टाल सकता था?

प्रियम्वदा ने अपना सिर ऊपर उठाया। चाचा जी के चेहरे पर आशा और उत्कण्ठा के चिह्न सामने के पहाड़ की तरह स्पष्ट हो उठे। प्रियम्वदा ने शून्य में देखते हुए स्थिर स्वर में कहा—'अच्छा'।

दो महीने बाद सुबोध और प्रियम्वदा का विवाह हो गया। चाचा जी ने और मैंने उस कठिन कार्य को सम्पन्न कर सुख की साँस ली। किन्तु कठिनतर कार्य का भार तो अब सुबोध पर था जिसे एक शव में जीवन डालना होगा।

सुबोध का प्रेम उसके सन्तोष की भाँति ही असीम था। किन्तु प्रेम, प्रेम को हमेशा नहीं पा सका है। विवाह के बाद एक बरस बीत गया लेकिन वह एक वर्ष भी प्रियम्वदा में कोई परिवर्तन न ला सका। प्रियम्वदा आज भी ससार से उतनी ही दूर थी जितनी एक वर्ष पहले। सुबोध का प्रेम उसके सन्तोष के साथ मिलकर हजार मन्त्रणाएँ करता था। वे दोनों अनेक बार तरह-तरह के षड्यन्त्र रच चुके थे, किन्तु प्रियम्वदा को वे सुबोध के निकट न ला सके। अतल की मछलियों को तो जाल में पकड़ा जा सकता है, किंतु आकाश के सितारों को, गर्दिश के गुम्मद में अङ्कित हमारे उन भाग्य नक्षत्रों को कौन पकड़ सका है?—कुछ ऐसी ही थी सदैव शून्य की ओर देखने वाली प्रियम्वदा की दृष्टि!

प्रियम्वदा की बेखुदी दूर न हुई। पिछले सप्ताह की उस घटना से मेरे

लिए तो यह निष्ठुर और कठोर सत्य बिलकुल स्पष्ट हो गया था, किन्तु भोला सुबोध उस सत्य को न समझ सका था।

स्थानीय हाई स्कूल में वार्षिक पारितोषिक-वितरण के उपलक्ष में उत्सव था। सुबोध वहाँ का प्रबन्धक है इसलिए हेड मास्टर ने प्रियम्वदा के हाथों पारितोषिक बँटवाने का आयोजन किया था। मुझे खुशी थी कि प्रियम्वदा का कुछ देर मन बहलेगा। आशा जीवन का पल्ला कभी नहीं छोड़ती। मुझे आशा थी कि ऐसे मन बहलाव से शायद प्रियम्वदा की चेतना लौट आएगी। किन्तु यह मेरा भ्रम था। पारितोषिक पाने वालों में एक विद्यार्थी का नाम सोमेन्द्र नाथ था। नाम सुनते ही मैं चौंका, लेकिन वह मोम की मूर्ति वैसी ही निश्चल रही। एक शिकन भी तो उसके चेहरे पर न आई। क्या प्रियम्वदा वास्तव में जीवित है, मैंने सोचा?

सुबोध के हृदय पर इसका दूसरा ही प्रभाव पड़ा। उसने सोचा प्रियम्वदा सोमेन को भूल चुकी है! तो क्या विडम्बना ही जीवन है? क्या जीवन की गति को गति-शील रखने के लिए भ्रम आवश्यक है?

सुबोध के मन में उस भ्रम के कारण प्रियम्वदा के, उस निरीह प्राणी को सशरीर पाने की आकांक्षा बलवती हो उठी। किन्तु प्रियम्वदा भी क्या उसका विरोध कर सकी?

कुरूप और कठोर वास्तविकता से दूर, बहुत दूर किसी स्वप्न-लोक में प्रियम्वदा की चेतना जग उठी, किन्तु वह जगी हुई चेतना प्रियम्वदा को अभी संसार के निकट न ला सकी थी।

उसकी अधखुली आँखें ऊपर के पलकों से आधी ढँकी हुई, उसकी बड़ी-बड़ी काली पुतलियाँ, पुलकित और शिथिल होते अङ्ग-प्रत्यङ्ग और उसके तीव्र श्वास—सभी कुछ सुबोध के लिए भ्रामक सिद्ध हुए। सुबोध को अपनी विजय पर गर्व था। उसने अपने को उस अशरीर शरीर का स्वामी

समझा । भोले सुबोध को विश्वास गया कि प्रियम्वदा के मन और शरीर पर उसका आधिपत्य है । ऐसे ही भ्रामक स्वप्नों को पलकों से मूँद वह सुख की गाढ़ निद्रा मे वह सो गया ! प्रियम्वदा ने उस सुदूर स्वप्न-लोक से क्षीण स्वर में पुकारा—'सोमेन, इधर खसक आओ, सोमेन !'—और मोह निद्रा मे निमग्न सुबोध को अपनी ओर खींच लिया । किन्तु क्या वह डूबते हुए सुबोध को उबार सकी ? हाँ, सुबोध उसे उबारने के निमित्त प्रयोजन मात्र बन गया था ।

सुबोध ऐसी मोह निद्रा में कभी न सोया था । प्रियम्वदा को भी वर्षों से ऐसी गाढ़ी नींद न आई थी । वह सुबह तक सोती रही । किन्तु नियमित समय से कुछ ही देर बाद सुबोध की नींद टूट गई । उसे सुबह सात बजे की गाड़ी से बाहर भी जाना था ।

प्रियम्वदा अभी सो रही थी । उसके ढीले ओठों पर एक अद्भुत भाव था, जैसे अपने बिछुड़े हुए प्रेमी से अभी-अभी संभाषण करती हुई वह सो गई है, और एक अदृश्य मुस्कान जैसे मधु में लिपटे मधुकर की भाँति उड़ जाने में असमर्थ है । सुबोध के हृदय में पहला भाव, उन ओठों को चूम लेने की बलवती इच्छा थी । न जाने क्यों दिन के प्रकाश में अशरीर प्रियम्वदा को छूने का उसे साहस न हुआ ? सुबोध उसे कुछ देर तक देखता रहा । उसने श्वासों की गति में प्रियम्वदा के उठते और गिरते वक्षस्थल की ओर देखा । न जाने क्यों उसे आभास हुआ जैसे उसे पीछे छोड़ कर एक काफला दूर हटता जा रहा है और उड़ती हुई धूल के अतिरिक्त वह किसी को अपने निकट नहीं देखता । उसे प्रतीत हुआ जैसे प्रियम्वदा, वही रात भर जिसके साथ पहली बार वह एक शय्या पर सोया है, जिसके शरीर का वह स्वामी बन चुका है, वह प्रियम्वदा वास्तव में उससे बहुत दूर है और प्रति क्षण और भी दूर हटती जा रही है । तो क्या

एक रात भर का वह सामीप्य केवल भ्रम था ! सुबोध के लिए यह विचार असह्य हो उठा। उसके अहङ्कार ने कहा—'नहीं सुबोध, तुम प्रियम्वदा के शरीर के स्वामी हो। तुम्हारा ही उस पर अधिकार है ! और यही तो है वह देह ! कितनी असहाय है यह देह ! आँखें खोल कर देखो, तुम्हारे सामने ही तो पड़ी है वह देह !' किन्तु दिन के प्रकाश में अब उसकी आँखें वास्तव में खुलती जा रही थीं ! 'क्यों खुल रही हैं ये आँखें ? अब क्या देखना चाहती हैं ये आँखें ? नहीं, नहीं, मैं अब और कुछ नहीं देखना चाहता', सुबोध का हृदय कराह रहा था। उसने बलपूर्वक अपने विस्फारित नेत्रों को मूँद लिया।

चार दिन के बाद जब वह मुरादाबाद से लौटा उसे मालूम हुआ जैसे सारा शहर बदल गया है और घर में घुसते ही उसे जान पड़ा जैसे वह घर ही सम्पूर्ण परिवर्तन का केन्द्र है। हवा में, दीवारों में और सिमेन्ट के कई बरस पुराने उस फर्श में न जाने कैसा एक परिवर्तन आगया था सम्पूर्ण वातावरण ही बदल गया था।

वह अपने कमरे में गया, ड्राइङ्गरूम में गया, लेकिन सभी जगह से सहमी हुई दीवारों की निस्तब्धता से उसे भय-सा लगता था। दो घण्टे तक वह अकेले ही बैठा रहा। प्रियम्वदा कहाँ है ?—उसने सोचा, किन्तु उसके स्वागत के लिए कोई न आया।

बैठे-बैठे वह ऊब गया होगा क्योंकि सर नीचा किए वह अब तेजी से कमरे के बीचों बीच घूम रहा था, और कौन जाने कितनी देर तक वह इसी तरह घूमता रहा ! प्रियम्वदा को तो वह तभी देख सका जब उसने बहुत देर बाद मुड़ कर दरवाजे की ओर देखा। प्रियम्वदा भी निश्चल मूर्ति की भाँति चौखट के सहारे न जाने कितनी देर से खड़ी थी। सुबोध एकबारगी उसे पहचान भी न सका, किन्तु दूसरे ही क्षण वह उसे पहचान

कर सहसा चौंक उठा। प्रियम्वदा विधवा के वेश में थी। रूखे केशों के बीच उस तेजस्वी चेहरे की ओर वह अधिक देर तक देख भी न सका।

सुबोध ठिठक कर जड़वत् खड़ा था, किन्तु प्रियम्वदा शान्त भाव से दो चार-कदम चल कर उसके सामने घुटने टेक कर बैठ गई। उसके करुण, किन्तु तेजस्वी नेत्रों मे हिन्दू विधवा के चिरन्तन संस्कार ज्योतित हो उठे थे। उसने हाथ जोड़ कर सुबोध से अत्यन्त विनम्र किन्तु शान्त स्वर में कहा—सुबोध बाबू, मैं आपकी अनेक कृपाओं के लिए आपके प्रति ऋणी हूँ, किन्तु मुझ असहाय विधवा के पास उन उपकारो के लिए प्रत्युपकार में देने को है क्या ? मैं असहाय हूँ, सुबोध बाबू ! अनाथ हूँ। आशा है आप मेरी रक्षा करेंगे। वर्षों की मूर्छा के बाद मेरी चेतना लौट आई है। अब मुझे अपने पति के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना है। हाँ, सुबोध बाबू मुझे अपने को सोमेन की पावन-स्मृति के योग्य बनाना है। युगो के बाद जगी हुई मेरी चेतना कह रही है कि अब मेरे लिए तपस्या का समय आगया है। अपने देवता ऐसे पति के शरीर को मैंने कञ्चन नहीं, मिट्टी समझा था; उस पाप के लिए मैं पर्याप्त प्रायश्चित कर चुकी हूँ—उस सुवर्ण की कीमत पहचानने के लिए काफी मूल्य दे चुकी हूँ। अब मुझे उन्हें पाने के लिए तपस्या करनी है। जिस तपस्या का वे मुझे अवसर दे गए हैं आशा है आप उसमें बाधा न डालेंगे।'

सुबोध क्या कहता ? वह पत्थर की मूर्ति की तरह जड़ और निःशब्द खड़ा था। प्रियम्वदा की आँखों का करुण, अनुरोध और भी सजीव हो उठा। अन्त में वह अपने आपको न रोक सकी—'आपके पैरों पड़ती हूँ, सुबोध बाबू ! मुझ असहाय विधवा की रक्षा कीजिए। मैं निरीह प्राणी हूँ। मेरी मुक्ति में बाधा न डालिए।' और सतीत्व की वह साकार मूर्ति, किंकर्तव्यविमूढ़ सुबोध के पैरो मे सिर रख कर फूट-फूट कर रोने लगी, जैसे

प्रलय के बाद सचेतन सृष्टि अपने को अकेली और अनाथ देख फिर प्रलय-सिन्धु में घुल जाने का प्रयत्न करने लगी हो।

दिन में जिन जड़ वृक्षों की ओर मैंने कभी आँख उठाकर भी नहीं देखा, रात्रि के झीने अन्धकार में उनकी चेतना न जाने कहाँ से लौट आती है, और वह रहस्यमयी मायाविनी मुझे पग-पग पर अपनी ओर आकर्षित करती है। वह रहस्यमयी जैसे कहती है कि दिनभर की खोई हुई चेतना को पाने के लिए वृक्षों को अन्धकार में डूबना पड़ता है। तो क्या यह सच है कि खोई हुई आत्मा को पाने के लिए प्रियम्वदा के हेतु वह काल-रात्रि अनिवार्य ही थी?



दिव्यचक्षु

पहाड़ की हलकी हवा में आसमान का नीला रंग और भी साफ मालूम होता है, और भी स्निग्ध। बड़े-बड़े शहरों का भार हृदय पर धारण करने वाले नीचे के प्रशस्त मैदानों के ऊपर भी वही आसमान है, लेकिन वहाँ और यहाँ के रंगों में कितना अंतर है! मामूली सूती कपड़े पर मैले पानी में घोला हुआ रंग मैदान के आसमान का रङ्ग है, और पहाड़ के आसमान का रंग है जैसे साफ पानी घुला हुआ रेशम की बारीक चादर पर चढ़ाया गया रंग हो। थका हुआ बलभद्र यही सब देख और सोच रहा था।

पगडंडी के किनारे जिस चट्टान पर वह बैठा था, वह बहुत छोटी न थी, और फिर थके हुए पथिक को लुभाने के लिए तो वह काफी आराम की जगह थी बलभद्र अनायास और खुद ब खुद लेट गया। उसका इरादा सोने का न था। लेकिन वृक्ष की छाया थी और हाथ का तकिया। मई के महीने में भी शीतल और सुखद बनी रहने वाली उस हलकी पहाड़ी हवा की झीनी रेशमी चादर को ओढ़ कर वह दो ही चार क्षणों में अच्छी गहरी नींद से सो गया।

ऐसे मौकों पर जब गुरुतर चिन्ता और सुखद निद्रा के बीच संघर्ष के लिए मनुष्य का हृदय कुरुक्षेत्र बन जाता है, तब वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो कर्तव्यनिष्ठा और निद्रा के आकर्षण की विरोधी धाराओं की भँवर में

डूबने-उतराने लगता है। जैसे डूबता हुआ मनुष्य बार-बार आकुल हो उछल-उछल पड़ता है, वैसे ही चिन्ता मे उनींदा मनुष्य भी अपनी चेतना को कायम रखने के लिए रह-रह कर बेचैन हो उठता है। परीक्षा के भीषण स्वप्नों के भय से विद्यार्थी जैसे सुबह की सुखद निद्रा के स्नेहपाश को तोड़, जान छुड़ा कर, चारपाई से कूद पड़ता है, वैसे ही चिन्तातुर बलभद्र भी नींद के नशे पर काबू पाने की कोशिश में था। लेकिन अंत में उसकी पराजय हुई और थके हुए तैराक की तरह वह नींद की गहरी सरित में डूब गया। कुछ देर तक वह असहाय भाटे की तरह लक्ष्यहीन और निरुपाय होकर ढुलकता रहा, किन्तु कौतूहल का फल चख लेने वाली नारी की संतान, मानव के मन को निष्क्रिय बना देना क्या साधारण प्राणियों का काम है ? प्राचीन ग्रंथों में देखा सुना है कि युगों के कठिन योगाभ्यास के उपरान्त कहीं योगीन्द्र अपने को निष्क्रिय बना सकते थे और इस प्रकार तुरीयावस्था को प्राप्त होते थे। लेकिन यह तो पुस्तकों की बात है। साधारण जीवन में तो यही देखा और सुना जाता है कि जब तक साँस है, शाति नहीं।

निद्रा ने बलभद्र के पलकों पर प्रहरी बिठा दिए। दृश्य जगत की सब वस्तुओं पर प्रतिबंध लग गया, लेकिन बलभद्र का चिन्तातुर मन ?— अन्दर से घर का दरवाजा बंद करके जैसे कोई बालक तोड़-फोड़ में लग जाता है, बलभद्र का मन भी अपनी उपचेतन अवस्था की उस उधेड़बुन में लग गया जिसे हम स्वप्नों का जजाल कहते हैं।

कुल-मर्यादा को नष्ट करने वाली अपनी तिरस्कृता बहन के प्रति सात वर्ष की नाराजी को भूल आज बलभद्र उसे खोजने निकल पड़ा है। आज उससे मिलने के लिए बलभद्र चिन्तातुर है। कुल-कलंक और अपने अहं-कार की कालिमा को वह उपेक्षिता बहन के चरणों में आँसू बहा कर

हमेशा के लिए धो डालना चाहता है। लेकिन उस बहन का पता वह कहाँ पा सकेगा ? बलभद्र ने सिर्फ इतना सुन रक्खा था कि उसकी बहन किसी अँधे कवि के साथ उत्तराखंड के किसी गाँव मे रहती है। वे दोनों वहाँ के ग्रामीण लोगो के साथ ग्रामीण जीवन निर्वाह करते हैं। गाँव का नाम भी उसने सुना था। लेकिन पहाड़ी इलाको मे उन छोटे-छोटे गाँवों का पता लगा लेना कोई आसान काम नहीं है। ऊँची-नीची जमीन पर पड़े हुए, छिन्न माला के मूँगों को अँधेरे में चुन लेना आसान है लेकिन पर्वत-प्रदेश के गाँवों का पता लगा लेना साधारण व्यक्तियो के लिए सभव नहीं। ऐसी ही बहुत सी बाते सोचते-सोचते बलभद्र खिन्न मन से सपनो के जंजाल को सुलझा रहा है। लेकिन द्रौपदी के चीर की तरह उसका अंत ही नही होता।

बहन को खोजते-खोजते वह थक गया है। उसके पैर लोहू-लुहान हो गए हैं और रास्ते का कहीं अन्त दिखलाई नही देता। पहाड़ी पगडंडियों मे झाड़-झंखाड़ का सहारा ले रोड़ो पर चलना पड़ता है, जहाँ अगला कदम अनिश्चित है, जहाँ रास्ता रोक कर खड़ी हुई दैत्य जैसी पहाड़ियों को पार करते ही पाताल-सा मृत्यु का काला देश भूले भटके पथिको को ग्रास बनाने के लिए गहरे खड्डों के रूप में कब, कैसे और कहाँ आ जाय, यह कोई नहीं जानता। लो, सामने सहसा एक खड्ड आ ही तो गया, जिसके भूखे पेट की गहराई का पता लगाना भी संभव नहीं। पैर फिसला, बलभद्र के जीवन का अन्त हुआ। ऐसा दुःखद अन्त होगा इस जीवन का, बलभद्र ने कभी कल्पना भी न की थी। इस तरह बेमौत मरना उसे गवारा न था—या शायद मृत्यु से भयभीत होकर ही वह इन तर्कों का सहारा ले रहा था ? यह सोचकर बलभद्र के स्वाभिमान को चोट पहुँची। उसने बहादुरी के साथ मौत का सामना करने के लिए पूरी ताकत से दोनों आँखें

मूँद लीं, प्रत्येक तंतु खिच गया—इतना अधिक कि दूसरे ही क्षण उसके टूटने का भय होता था। हृत्कम्प इतना अधिक बढ़ गया जैसे हथौड़े की चोट से पसलियों के अस्थिपंजर को तोड़ने की कोई जी जान से कोशिश कर रहा हो। ऐसी अवस्था में बलभद्र को और कुछ क्षणों तक रहना पड़ता तो शायद सचमुच उसकी मृत्यु हो जाती। लेकिन जीवन-मृत्यु से अपनी रक्षा करना जानता है। सहसा बलभद्र की आँखें खुल गईं। पहले तो वह स्वयम् ही न समझ सका कि वह स्वप्न देख रहा था। अपने को सुरक्षित और जीवित देख उसे आश्चर्य हुआ और वह अनायास ही मुस्करा दिया। तब कहीं उसे बढ़ते हुए अंधकार का ध्यान आया। संध्या बीत चली थी और एक अपरिचित स्थान में पहाड़ी रात का स्वागत करने के लिए बलभद्र जरा भी तैयार न था। पास के गाँव में रात बिताने के लिए वह फौरन चल पड़ना चाहता था।

किन्तु उसका झोला और बिस्तर, जिन्हें अपनी यात्रा में वह जीवन के मोह की तरह पीठ पर लादे घूमता रहा था, वहाँ नहीं थे। उसके पैरों के नीचे से एकबारगी सारी जमीन खिसक गई। लेकिन जब उसने मुड़कर देखा उसके आश्चर्य की सीमा न रही। एक हँसमुख युवक, एक हाथ में झोला लिए और कमर पर बिस्तर लादे हुए वहाँ खड़ा जैसे बड़ी देर से उसके आदेश की प्रतीक्षा में था। बलभद्र को आश्चर्य में देख युवक ने बड़ी शिष्टता के साथ पूरी परिस्थिति समझा दी। युवक ने बतलाया वह पास के गाँव का एक स्वयम्सेवक है। छः सात वर्ष पहले उत्तराखंड की इस पवित्र भूमि में भी यात्री लोग यहाँ लुट जाया करते थे, इसलिए यहाँ स्वयम्सेवक दल की स्थापना की गई। लोगों को इस सत्कार्य की प्रेरणा देने का श्रेय दल के संस्थापक और प्रधान, बाहर से आए हुए देवदूत के समान एक व्यक्ति को है, जो यद्यपि साधारण सांसारिक पुरुषों के लिए

अंध हैं, किन्तु वास्तव में दिव्यचक्षु हैं। वे कवि हैं, जिनकी दिव्यवाणी राग द्वेष से क्षुब्ध समस्त मानव संसार को शांत और शीतल करने की सामर्थ्य रखती है। उनके साथ एक देवी हैं, जिन्हें स्वयम्सेवक माँ कहता है। वे दोनों पाँच-छः वर्ष पूर्व इधर आए थे और संसार से दूर किसी अज्ञात कोने में निवास करना चाहते थे। देवभूमि उत्तराखंड की तात्कालिक दुर्व्यवस्था को वे चुपचाप सहन न कर सके, और इस प्रकार उन्हें नासमझ संसार से फिर नाता जोड़ना पड़ा, इत्यादि।

बलभद्र ने कोई प्रश्न नहीं किया। सिर्फ एक गहरी साँस ली और अपने सीधे हाथ से माथे का पसीना पोंछ लिया। दोनों व्यक्ति गाँव की ओर चल पड़े। स्वयम्सेवक ने फिर कहा—आप उन्हीं के आश्रम में ठहरेंगे, लेकिन इस समय उनके दर्शन न हो सकेंगे। दिन भर के कार्य-भार के बाद इस समय वे काव्य-साधना में लीन हो जाते हैं और माता के अतिरिक्त और कोई उनके पास जा नहीं सकता।

सीढ़ियों के खत्म होने के बाद एक छोटा-सा सहन है, जिसके बीचों-बीच कमरे का दरवाजा खुलता है, जो इस वक्त खुला हुआ है। कमरे में प्रकाश है और उस प्रकाश में साफ दिखलाई पड़ता है कि दो व्यक्ति पास बैठे बड़े स्नेह से बातें कर रहे हैं। यदि कोई सीढ़ी के किनारे अँधेरे में बैठ कर सुने तो वह सब कुछ सुन ही नहीं, देख भी सकता है। खुद अँधेरे में छिपा रहने के कारण वह छिपा रहेगा।

बहन को उसी रात देख लेने के लोभ को बलभद्र छोड़ नहीं सका था। इसलिए आश्रम से निकल कर वह चुपके-चुपके दबे पाँव सीढ़ियों के सहारे ऊपर आ गया था। फिर कमरे में दम्पति के प्रेमालाप में बाधा न डालने के खयाल से वह आखिरी सीढ़ी पर चुपचाप बैठ गया था। एक-टक वह बहन को देख रहा था। एक-एक शब्द वह सावधानी से सुन रहा

था। आँख-कान के सिवा उसका बाकी सब शरीर शून्य हो गया था।

'मालती, मैंने अनेक बार, कदाचित् प्रत्येक दिन तुमसे कहा है—आज का दिन कितना सुंदर है, कितना सुखकर है!' स्वर कुछ धीमा और गंभीर हो गया। 'मेरे आँखें नहीं हैं, इसलिए मैं संसार की सुंदरता को दूसरों की भाँति नहीं देख सकता, किन्तु अपनी अनुभूतियों को स्पष्ट देख सकता हूँ—जैसे कोई पूर्णिमा के चाँद को देख सकता है।' कवि के धनुषाकार ओठों पर मुसकान नाच उठी। आनंद के उद्वेग से, उसके कपोलों पर पड़े हुए घुग्गेदार केश हिल गए। 'ये ग्रामीण बंधु मुझे दिव्यचक्षु कहते हैं, तो क्या झूठ कहते हैं? मैं वास्तव में सौन्दर्य और सुख जैसे सूक्ष्म और निराकार तत्वों को सजीव रूप में देख सकता हूँ। जिस विधाता ने मेरे जीवन की अमावस्या बनाई, उसीने मुझको तुम्हें दिया, मेरे पूर्णेन्दु! जिस महाकाव्य को आज मैंने समाप्त किया है वह तुम्हारी ही तो ज्योत्स्ना है।

'तुम बोलती क्यों नहीं हो, मालती? क्या थक गईं इस प्रेमालाप-प्रलाप से? या इस महाकाव्य की पंक्तियों को नित्य लिखते और सुनते-सुनाते?'

'थक गई हूँ? तुम इतने निष्ठुर कैसे हो सकते हो? सब कुछ समझते हो, खूब जानते हो कि मेरे चुप हो जाने का कारण क्या है। तुम्हारे श्री चरणों में ही सदैव रह सकूँ और उस जन्म में भी किस कौशल से तुम्हें पाऊँ, इसी चिन्ता में अपने को भुलाकर कभी कुछ क्षणों के लिए चुप हो जाया करती हूँ।'

'किन्तु, मालती, तुम तो जानती ही हो कि मालती को छोड़कर और कोई व्यक्ति उस जन्म में भी तुम्हारे स्थान को नहीं पा सकता।' फिर यह चिन्ता क्यों?'

वह चुप थी। उसकी आँखों में आँसू उमड़ आए, किन्तु फिर दूसरे ही क्षण अपने को सँभाल, गला साफ करती हुई बोली—'यही तो चिन्ता का कारण है।' कहना चाहती थी—'क्या मुझे किसी दूसरे नाम से नहीं पुकार सकते?'—लेकिन जिस तपस्या में इतने दिनों वह चुप रही थी, आज भी उसी के कारण उसने मुँह न खोला।

बाहर बैठे हुए बलभद्र को आश्चर्य हुआ। उसकी बहन का नाम तो मालती न था, किन्तु स्वर और आकृति को वह कैसे भूल सकता था? हाँ, वह सुभद्रा ही थी, किन्तु फिर यह मालती क्यों? कवियों को नए नामकरण का सदैव अधिकार होता है, यह सोचकर बलभद्र का मन फिर कुछ स्थिर हुआ। उसके कानों में फिर उसी आलाप की ध्वनि पड़ने लगी। उसे अपने पड़ोसी, धनीमानी सेठ की एक मात्र पुत्री, मालती का ध्यान भी न आया—आता भी क्यों? वह तो ससुराल का सुख छोड़कर चार बरस से बीमार बाप को देखने के लिए भी न आई थी।

'मालती, आज तो तुम अपने अतिथियों को देख भाल के लिए भी—न—कुछ देर के लिए भी न जा सकोगी। आकाश-पाताल की निरर्थक बातों वाले महाकाव्य से आज मुझे फ़ुरसत मिली है। याद है, मालती, हमारा प्रथम मिलन कैसे हुआ था? क्यों, मालती, उस जन्म में तो मुझे आँखें मिलेंगी ही! तुम्हें देख भी सकूँगा। इस जन्म में जब तुम्हें एक बार देखा था तब स्वर न सुना था और जब स्वर सुना तब आँखें न थीं। तुम्हें देखा भी था केवल एक बार तुम्हारे साथ एक और भी थी न? तुम्हारी साड़ी का रँग धानी था, और वह—उसकी मुझे याद नहीं। तुम्हें मैंने जब पहला पत्र लिखा था तब मेरी ये आँखें थीं। उसके बाद दो महीने तक हमारा पत्र-व्यवहार रहा। तुम्हारे पहले पत्र का अधिकांश आज भी मुझे याद है। मेरी शकुन्तला का प्रथम पत्र-लेखन भी किसी

प्रियम्वदा की सहायता से ही हुआ होगा ?'

वह चुप थी। कमरे में रात की पर्वतीय हवा का सहारा एक झोंका आया। वह सिहर उठी। उसे भय हुआ वह अपने को सँभाल न सकेगी। किन्तु सात वर्ष की तपस्या का धैर्य साधारण नहीं होता। उसने स्थिर होकर शांत स्वर में कहा—'जाऊं, प्रतिथियों को भी तो एक बार देख आना है। इस निस्सार कथा में क्या रक्खा है ? मेरा जीवन तो उस दिन से आरम्भ होता है जब मैंने सुना कि जगह-जगह के डाक्टरों का इलाज कराने के बाद तुम निराश घर लौट आए हो। घर आते ही पिताजी की मृत्यु हुई, मौसी चली गई और फिर संसार में तुम्हारा कोई अपना न रहा। एक दिन मैं तुम्हारे घर आई। निस्तब्ध निशा थी। सारे नगर में अंधकार था। तुम घर में अकेले थे। तुमने पूछा—कौन हो तुम ? मैंने उत्तर दिया था—आपकी दासी।'

'और मैंने क्या उत्तर दिया था, याद है मालती ? मैंने कहा था—क्या तुम मेरे स्वप्नों की स्वामिनी मालती हो ? तुमने आनंद के आँसुओं से भरे हुए नेत्रों से कहा होगा—'हाँ', किन्तु कुछ क्षणों के लिए तुम चुप रहीं—गला भर आया होगा—और फिर कहा—हाँ, प्राणनाथ ! तुम्हारे स्वप्नों की स्वामिनी मालती ही हूँ। क्या मुझे अपनी चरण-सेवा का अधिकार दोगे ? और तुम मेरे पैरों से लिपट गई थीं। तुम्हारे हृत्कम्प में असंख्य सागरों की हलचल थी। उसी रात नगर छोड़ कर हम चल पड़े थे। धनीमानी सेठ की पुत्री एक अंधे युवक के साथ निकल गई, इस कोलाहल से सम्पूर्ण नगर गूँज उठा होगा। लेकिन हम उसे बहुत पीछे छोड़ चुके थे, बहुत दूर आगे बढ़ चुके थे। घर छोड़ा, गौरव छोड़ा, पिता, कुल-मर्यादा सबको छोड़ तुम मेरे साथ आईं। आज ये लोग मुझे दिव्य-चक्षु कहते हैं पर मेरे अन्तर्नयन को ज्योति किसने दी है, यह भी कोई

जानता है ? मैं कितना भाग्यवान हूँ, मालती ! मेरे लिए वह स्वप्न भी सच हुआ जो किसी के लिए नहीं होता ।

कवि की लम्बी अँगुलियों से अपनी पतली कोमल अँगुलियों को उसने छुड़ाना चाहा, किन्तु सब व्यर्थ ।

'मालती, यह रात हमारे लिए सबसे अधिक सुख की रात है । आज मेरी अन्तरात्मा जैसे तुमको अपना सब कुछ सौंप देना चाहती है । आभास होता है जैसे फिर कभी कुछ कह न सकूँगा । आज सुख की चरम सीमा है, इसके आगे न जाने क्या होगा !

'मालती' एक दिन तुमने मुझसे चरणों का आश्रय माँगा था आज मैं तुमसे वह भीख चाहता हूँ । मेरे महाकाव्य के पहले ही पृष्ठ पर और अपने ही हाथ से लिखो—'मालती के चरणों में !'

वह काँप उठी । उठी और काँपते हुए दोनों घुटनों को झुका कर फिर असहाय-सी वहीं बैठ गई ।

बलभद्र बैठा न रह सका, वह उठ खड़ा हुआ । उसके मुख से सहसा यह उद्‌गार फूट निकला—'क्या यह संभव है !'

निस्तब्ध निशा थी । ज्वालामुखी के विप्लव की भाँति निकला हुआ वह स्वर कमरे के भीतर भी उसी तरह सुनाई दिया । दोनों ही चौंक पड़े । किन्तु सुभद्रा के लिए वह स्वर अपरिचित न था । वह आहत मृगी-सी एक ही छलाँग में बाहर हो गई । क्या यह भाई का स्वर है ?—लेकिन बाहर तो कोई भी न था । उसने आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखा । हाँ, वास्तव में वहाँ कोई भी न था । भाई का स्वर ?—कदाचित वह केवल भ्रम ही था । किसी अनिष्ट की सूचना तो नहीं ! आज पुरानी स्मृतियों के प्रेत, जिन्हे उसने इतने दिनों तक पास नहीं आने दिया था, सहसा जग रहे थे ।

हाँ, वह मालती की सखी, सुभद्रा ही थी। वह धनी-मानी सेठ की उस ऐश्वर्यशालिनी एक मात्र पुत्री की निर्धन सखी सुभद्रा ही थी। यह वही सुभद्रा थी जो मालती के विनोद के लिए नगर के विख्यात कवि के नाम अन्तःपुर से पत्र लिखती थी। धनिक की पुत्री, मालती के लिए जो विनोद था, वह एक साधारण युवती के सच्चे हृदय के लिए अंगार बन गया। वह उन पत्रों में अपने हृदय को ही चीर कर रखती थी। जो मालती के लिए विनोद और कवि के लिए सुख-स्वप्न था, वही भावुक सुभद्रा के लिए प्रेम बन गया, जिसकी आग में वह आँख मूँद कर कूद पड़ी थी। वह जानती थी, पत्रों में पढ़ चुकी थी कि कवि महोदय मालती के अतिरिक्त किसी को छायादान न देंगे! मालती इस बात को पढ़ कर विनोद वश हँस पड़ती थी। सुभद्रा के हृदय में उस उपहास की याद बिजली की तरह तड़प उठी। आकाश में क्षण-क्षण और दिशा-दिशा में जो बिजली उन्मत्त हो नाच उठती है, सुभद्रा के हृदय में भी वही बिजली नाच रही थी और उसकी चकाचौंध में सम्पूर्ण दिशाएँ, सब-कुछ, घर-बाहर, बन-पर्वत एक निमिष में अगणित रूप धर काली छायाओं के रूप में नाच उठे थे।

उसके पैर डाँवाडोल थे। उसकी टाँगें काँपती थीं और उसके घुटने हिल रहे थे। जब अपने को सँभाल न सकी, वह छत पर बैठ गई। उस अवस्था के स्वयं गंगाधर गौरीशंकर का खड़ा रह सकना भी असम्भव था। जीने के अंधकार में छिपे हुए बलभद्र के लिए भी वहाँ छिप रहना अब सम्भव न था। सौर-मंडल को छंदों में बाँधने की क्षमता रखने वाले दिव्य-चक्षु जिसे न पहचान सके थे, उस अपनी बहन तापसी सुभद्रा को वह पह-चान गया था।

'तुम्हारे चरणों की धूल लेने के लिए दुनिया भर में तुम्हें खोजता हुआ यहाँ आ पहुँचा हूँ, बहन!'—रुद्ध कंठ से बलभद्र ने कहा।

वह लडखड़ाती-सी खड़ी हुई। सात बरस की कठिन तपस्या के भार से दबी हुई आवाज सहसा उसके कंठ से फूट निकली। 'भाई', कह कर वह चीख उठी और उन्मत्त होकर हवा में काँपते हुई अपने दोनों बाहें, उसने बलभद्र के गले में डाल दिए।

बलभद्र की आखों से आंसुओं की धारा उमड़ चली। वह जैसे कहना चाहता था—'मैं तुम्हारी उपेक्षा नहीं करता, बहन! तुमने प्रेम की भीख के लिए छल नहीं किया, तपस्या की है। सुभद्रा, यह छल नहीं तपस्या ही है।'

भीतर कमरे में बैठे हुए दिव्यचक्षु कौतूहलवश मौन थे। घबराई हुई ऊँची आवाज में कवि ने पुकारा, 'मालती!'

और सुभद्रा? उसकी देह भाई की बाहों में अवश्य थी, किन्तु सात वर्ष की कठिन तपस्या से जर्जर शरीर में अब इतनी शक्ति न थी कि वह उसके प्राणों को पींजड़े में बंदी रख सकती। सुभद्रा की वह अंतिम चीख थी, किन्तु उसमें कोई उलाहना या शिकायत न थी।

पुकारने पर जब दिव्यचक्षु को कोई उत्तर न मिला तो वह घबरा कर उठे, वेग से बाहर निकले और चौखट से टकरा कर वहीं बैठ गए।

पूरब दिशा में दैत्य की तरह खड़े हुए भीमकाय पहाड़ की चोटी पर शम्भु के तिलक की भाँति अर्धचंद्र उदय हो रहा था।

वैराग्य का राग

पूरे पाँच वर्ष बाद वह आज सुरेश से मिलेगी। शारदा के हृदय में न जाने क्यों भय की एक हलकी लहर सी उठती है! रह-रह कर एक अज्ञात आशंका उसे न जाने क्यों सताने लगती है! क्या इसलिये कि वह आज दूसरे की होकर भी अपने पहले प्रेमी से मिलेगी जो उसका नहीं! पहला प्रेमी ही सही किन्तु प्रेमी से भय कैसा!—यह आशंका क्यों?

सुरेश के लिये शारदा आज भी संसार में सबसे प्यारी चीज है, शारदा के हृदय में पूरा विश्वास है। शारदा यह भी जानती है कि सुरेश उसे किसी भाँति की हानि नहीं पहुँचा सकता। इतने पर भी यह भय, यह व्यर्थ की आशंका क्यों!—और फिर शारदा को यह भी तो न भूल जाना चाहिये कि सुरेश के पास न्यौता भी उसी ने भेजा है!

न्यौता किसलिये भेजा है? क्या यह कहने के लिए 'मेरे वंचित प्रेमी! अवश्य मैंने किसी-किसी समय तुम्हें अपना हृदय दिया था, किन्तु आज समाज और समाज के मान्य गुरुजनों की आज्ञा से, कर्त्तव्य की वेदी पर अपनी रंगीन इच्छाओं और आकर्षक कामनाओं की बलि दे रही हूँ'—! इतना ही नहीं, वह अपने पहले प्रेमी को और भी विश्वास दिलाना चाहती है—'मैंने अपने स्वार्थ पर पूरी विजय प्राप्त की है और अपने त्याग में मैं आज तृप्त हूँ, अपने वैराग्य में सुखी हूँ!'

अपने पहले प्रेमी से वह ये सब निरर्थक बातें ·· ·लेकिन वह उन्हें

कहना ही क्यों चाहती है? क्या यह सुनाने के लिये कि वह अपने लिये एक ऐसे संसार की सृष्टि कर चुकी है जहाँ प्रेम नहीं कर्त्तव्य ही इष्ट है, जहाँ मन की कामनायें नहीं, गुरुजनों की आज्ञाओं का निस्वार्थ पालन ही धर्म है? वह सुरेश को आमंत्रित ही क्यों कर रही है? क्या आत्मप्रशंसा का सुख उपभोग करने के लिये? यदि यह नहीं तो क्या विजित को उसकी पराजय का, अकिञ्चन को उसके खोये हुए धन का अथवा व्यथित को उसकी व्यथा का ही ज्ञान कराने के लिये? जिस घायल के घावों के लिये उसके पास मरहम नहीं वह उसके घावों से बँधी हुई पट्टियों को आखिर खुलवाना ही क्यों चाहती है? जो भिक्षुक एक बार निराश होकर लौट चुका हो, उसे वह सिर्फ इतनी सी बात सुनने के लिये क्यों पुकार रही है—'सुनते जाओ निराश भिक्षुक! मेरे पास तुम्हें भिक्षा में देने के लिये कुछ नहीं है, कुछ नहीं है!' और वह भिखारी भी तो साधारण भिखारी नहीं। वह शारदा के विश्वास भरे इशारों के ही कारण भिखारी बना, जिससे, हाँ, वह खुद भी कभी कुछ भिक्षा चाहती थी।

पहले प्रेमी निराश सुरेश को इस प्रकार बुला भेजना क्या अन्याय नहीं?—शारदा की अन्तरात्मा शायद इसीलिये सशंकित थी, भयभीत थी।

शारदा की गर्वोक्तियाँ सुनकर क्या सुरेश उसे ताना न देगा—'क्यों शारदा, जिसे तुम भी कभी अपना हृदय दे चुकी थी, आज उसे अपने पाणि-पल्लव से वंचित कर, इस तरह जलील करना चाहती हो?' उसका उत्तर वह क्या देगी? और, सुरेश के व्यथित हृदय को चोट पहुँचा कर उसे लाभ ही क्या होगा?—ऐसी ही अनेक समस्यायें उसे भयभीत कर रही हैं, उर में बरबस आशंकाओं का आन्दोलन मचा देती हैं। बिजली के पंखे की तेज हवा में भी वह पसीने से तरबतर हो रही है।

शारदा के उदभ्रान्त हृदय ने उसे ढाढस बँधाया—'तुमने तो, शारदा, अपनी सञ्चित और प्रियतर इच्छाओं की बलि देकर ही कर्त्तव्य का कठिन मार्ग ग्रहण किया। जिसे तुमने धर्म समझा उसी को तो अपनाया। फिर सुरेश पर अन्याय होने की यह आशंका क्यों? सुरेश के दग्धवाग्वाणों की आखिर इतनी चिन्ता ही क्यों, जब तुम वास्तव में उसके हित और कल्याण की ही कामना रखती हो।'

मन में फिर तर्क हुआ—'सुरेश के कल्याण की इसमें कौनसी कामना छिपी है? तुम तो धूल में मिले फूल को और भी पामाल करना चाहती हो।'

इस तर्क का तुरन्त ही समाधान भी हुआ—'गुरुजनों की आज्ञा में आनन्द समझ, विवाह में सुहाग का नहीं तुमने तो वैराग्य का ही वरण किया है, समाज के हित की कामना से अपना अहित कर स्वार्थ को जीता है और इस प्रकार अपनी आत्मा की उन्नति का मार्ग भी ढूंढ निकाला है। तुम तो सुरेश की आत्मा को भी यही श्रेयस्कर मार्ग दिखाना चाहती हो। सुरेश के कल्याण की कामना से ही तुमने उसे बुला भेजा है।'

अन्धकार में से किसी ने कहा—'अपने को धोका देती हो, भोली बालिका! तुम अभी आसक्ति और वैराग्य के भेद को ही नहीं समझतीं?'

शारदा के हृदय ने तड़ित की भाँति तड़प कर उत्तर दिया—'आसक्ति और वैराग्य के भेद को ही नहीं समझती!—क्या शारदा नहीं समझती इस भेद को, जिसने दूसरों की खुशी के लिये अपनी सारी हसरतों की अञ्जलि दे दी, जिसने अपने इप्सित पथ से मुँह मोड़, सदा के लिये अपनी कामनाओं से नाता तोड़ लिया।'

अन्धकार में से किसी ने फिर कहा—'आसक्ति से नाता तोड़ लेना

इतना आसान नहीं है। भूली हुई कामनाओं को तुम यह कहने के लिये आमंत्रित कर रही हो कि अब वे तुम्हारी नहीं रहीं, तुम्हें अब उनसे आसक्ति नहीं है। किन्तु वास्तव में यह तुम्हारी उस मनोदशा का द्योतक है जो बार-बार गौतम को, महाभिनिष्क्रमण के समय अपनी यशोधरा और राहुल को परित्याग करने के पूर्व, उन्हें केवल एक बार देखलेने के लिये लालायित कर रही थी। गौतम से महात्यागी के लिये भी वह एक बार देख लेने की लालसा अनेक बार में परिणत हुई, और यदि उस महात्यागी का संयम और भी डिगजाता तो आज संसार का इतिहास ही बदला हुआ होता। जब महात्यागियों की यह दशा है तो अपनी भ्रान्तियों से तुम कैसे बच सकोगी, भोली शारदा ?'

वैराग्य की भ्रान्ति और उस भ्रान्ति के भ्रान्ति होने की आशंका के कारण शारदा के मुख से एक शब्द भी न निकला। कमरे के बाहर सुरेश की पद-चाप सुनाई दी, शारदा सँभली। ढलती हुई निद्रा के पश्चात, बीते हुए स्वप्न-जंजाल के बाद जैसे साकार सूर्य का उदय होता है, सुरेश ने शारदा के कमरे में प्रवेश किया। जैसे विगत स्वप्न की सब बातें जगने पर भूली सी प्रतीत होती हैं, शारदा भी पिछले क्षणों के तर्क-वितर्कों को बर-बस भूलती जारही थी। सुरेश को देखकर तो वह उस बात को भी न कह सकी जिसे कहने के लिये शारदा ने लौटे हुए भिखारी को बुला भेजा था।

पाँच वर्ष के बाद आज दो बिछुड़े हुए प्रेमी मिले थे। वे लम्बे पाँच वर्ष, कल्पों की भाँति न बीतने वाले वे पाँच वर्ष बीती हुई रात की तरह अस्तित्वहीन हो गये—जैसे मंगल-प्रभात को देखकर कोई उस काली रात को स्मृति से बिलकुल ही बिसार दे!

शारदा के लिये तो वे कठिन आत्म-विमर्ष से भरे हुए पाँच वर्ष थे,

जब मन कभी कहता था—'यही तो सच्चा सुख है; त्याग की आग है; वैराग्य का राग है और निस्वार्थ कर्त्तव्य-निष्ठा की कामनाओं पर विजय है। इस उच्चादर्श के पारस को छूकर ही तो तू सुवर्ण बनेगा और फिर वेदना के आतप में तपकर तरल होगा—तरल होगा, जिससे सत्य के साँचे में ढल सके। यही तो स्वर्ग है! इसी में मुक्ति है!!' उत्साह जब धीमा होता, दुर्बल पैर ठहर जाते, कठिन राह में चलते-चलते ठिठकने लगते थे। संशय कानों में मानों कहने लगता था—'सच्चा वैराग्य है यह! आत्म-प्रवंचना तो नहीं जिसे मन सत्य कहता है।' पैर काँपने लगते थे और शारदा निराधार हो थककर बैठ जाती थी। फिर बल-संचय कर आगे बढ़ती और विगत बातों को भूलने का प्रयत्न करती थी। इस प्रकार कटे थे शारदा के वे विमर्ष-पूर्ण लम्बे पाँच वर्ष!

आज अभी-अभी कुछ देर पहले उसे अनुभव हो रहा था, जैसे वह अपने आप पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुकी हो। और इसी विजय की घोषणा करने की कामना से उसने सुरेश को आज आमन्त्रित किया था—उसी सुरेश को, जिसे एक बार वह सर्वस्व दे चुकी थी, वही सुरेश—गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य कर जिसे वह त्याग चुकी थी। यह वही सुरेश है, जिसने पाँच वर्ष पूर्व शारदा से बने बनाये संसार को व्यर्थ के वैराग्य और अनर्थ के कर्त्तव्य पर बलि न देने के लिए प्रार्थना की थी—एक बार नहीं, अनेक बार!

सुरेश ने उसे चेतावनी दी थी। उसे कितनी ही तरह से बहलाने की मनाने की कोशिश की थी। 'व्यर्थ का त्याग मोल लेना तप नहीं है, शारदा!'—सुरेश ने उसे समझाया था। सुरेश ने यह भी तो कहा था—'शारदा! अच्छा तुम मुझे अपना कृपा-पात्र न बनाओ। कर्त्तव्य समझ, पिता की आज्ञा से जिसे वरण करने जा रही हो उसी को पति मानो।

किन्तु इस पति के वरण के बाद भी यदि तुम्हारे पिता तुम्हें दूसरे ही पति को वरने की आज्ञा दें तो भी क्या तुम उनकी आज्ञा का पालन करोगी ? यदि हाँ, तो मैं सहर्ष विदा लेता हूँ और यदि नहीं, तो व्यर्थ की महत्ता को भूल मुझे ही भिक्षा दो !'

आज तो वे सब पुरानी बातें हुईं। किन्तु शारदा को एक-एक कर सभी बातें याद आ रही थीं। सुरेश से कही हुई उसे अपनी वह अन्तिम बात भी याद आई—'सुरेश ! राग-रंजित कामनाओं को छोड़ मैं आज वैराग्य ले रही हूँ। मैं अपनी अग्नि-परीक्षा में सफल हूँ, मुझे यही आशीर्वाद दो—बस अन्तिम भेंट !'

आशीर्वाद दे सुरेश ने अपनी पीठ फेरी थी और शारदा का नया संसार आरम्भ हुआ था। वह नया संसार जिसमें कठिन आत्म-विमर्ष के उसने वे लम्बे पाँच वर्ष बिताये हैं !—जिनमें तपकर उसने आत्म-विजय की सिद्धि प्राप्त की है। संघर्ष के बाद वह आत्म-विजय !

क्या उसी आत्म-विजय की घोषणा करने के लिये उसने सुरेश को बुला भेजा है ? क्यों बुला भेजा है तूने सुरेश को, पगली शारदा ? क्या विजय की घोषणा करने। कहीं वह तेरी पराजय का ही तो संवाद न होगा, भोली शारदा !

सुरेश को सम्मुख देख शारदा सब कुछ भूल गई। पाँच वर्ष से बिछुड़े हुए उस अतिथि का वह कुछ सत्कार भी तो न कर सकी। सुरेश ने मौन भंग करते हुए पूछा—'अच्छी तो रहीं !'

शारदा के चरण काँपने लगे। कठिन पथ में चलकर, पाँच वर्ष की उस दूभर-यात्रा में थके हुए, वे कोमल चरण विगत इतिहास की उस मूक मूर्त्ति, शारदा के भार को न सभाल सके। शारदा गिरी किन्तु सुरेश के चरणों का अवलंब लेकर, जैसे डूबता हुआ प्राणी किसी तरणी का सहारा

ले। उसका अहंकार आँसुओं में बह चला। विजय की घोषणा दो दीन शब्दों में हुई—सुरेश, क्षमा !'

निराधार छिन्न लतिका-सी अचेत शारदा को सुरेश ने गले लगाया। आँसू की दो शीतल बूँदों से उसे सचेत किया।

शारदा ने दोनों आँखे खोलदीं। भ्रान्त मृगी के उन विस्फारित नेत्रों की भाषा तो कौन जान सकता था, शारदा के उद्भ्रान्त शब्दों को समझना और उन पर विश्वास करना ही एक पहेली था। शारदा ने बन्धन से मुक्त होकर पागलों की भाँति कहा—'सुरेश, मेरी रक्षा करो। मैं तुमसे भिक्षा माँगती हूँ मुझे न छूओ। अपने स्पर्श मेरे वैराग्य को न रँगो। मुझे बचाओ, सुरेश ! मेरी सञ्चित साधनाओं को कलुषित न होने दो। मेरी विजय को मुझसे न छीनो तुम्हारे पैर छूती हूँ, सुरेश ! रेगिस्तान को सर-सब्ज किए हुए बाग में, अंगारों से भरा हुआ यह तूफान मत बहाओ। तुम यहाँ आये ही क्यों, सुरेश ! जाओ, जाओ, देखो बाँध टूटा चाहता है। मेरा बना बनाया संसार बह चलेगा। रक्षा करो, सुरेश ! रक्षा करो !'

बेचारी शारदा उस अन्तिम आत्म-संघर्ष को न सह सकी थी। उसने सदैव के लिए संसार से आँखे मूँद लीं।

नगर के दक्षिण में गंगा की शुभ्र धारा युगों से बह रही है। गंगा के जल में दिवस की कंचन-चिता संध्या, अपनी अन्तिम लपटों को समेट लीन हो रही है और तट पर शारदा की चिता भी अपनी अन्तिम जीवन-लीला समाप्त कर चुकी है।

सुरेश, जिसके हृदय में अगणित जीवन-संध्याओं-सी चिताएँ प्रज्ज्वलित हो बुझ चुकी हैं, और जिसके अन्तर में शतसहस्र निशाओं के तम से गहनतर तिमिर-पारावार लहराता है, सदैव के लिए बुझती हुई शारदा की जीवन-चिता के सहारे बैठा, वैराग्य की भस्म को अपने मस्तक पर धारण

करने की चेष्टा कर रहा है मानो संध्याकालीन संसार तम से अपना अभिषेक करना चाहता है।

नीरव संध्या का मौन भंग करते हुए, सुरेश ने धीरे से कहा—'तुम भूलती थी, शारदा! जिसे तुम वैराग्य समझती रही वह केवल आत्म-प्रवंचना थी।'

